भारत में ग्रामीण विकास

इकबाल सिंह

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
National Council of Fducational Research and Training

प्राक्कथन

भारत में ग्रामीण विकास नामक इस सुगम पुस्तक को प्रकाशित करते हुए मुझे अत्यधिक हर्ष हो रहा है। भारत जैसे देश में, जहाँ प्रत्येक पाँच व्यक्तियों में से चार व्यक्ति ग्रामीण हैं, ऐसे विषय की आवश्यकता और भी अधिक है। किशोर छात्र-छात्राओं की आकांक्षाओं तथा संवृद्धि-अभिलक्षणों को ध्यान में रखकर इस पुस्तक की रचना की गई है। आशा की जाती है कि यह पुस्तक विशेष रूप से उन विद्यार्थियों के लिए जो ग्यारहवीं और बारहवीं कक्षाओं में पढ़ते हैं बहुत ही लाभदायक सिद्ध होगी। भारत में ग्रामीण विकास की समस्या से सम्बन्धित कुछ पहलुओं पर कार्य करने के लिए इन विद्यार्थियों के सामाजिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य को विशाल बनाने में यह पुस्तक सहायक सिद्ध हो सकती है।

मैं डा० इकबाल सिंह, वैज्ञानिक, भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान, नई दिल्ली का आभारी हूँ जिन्होंने हमारे निवेदन पर इस पुस्तक की पाण्डुलिपि तैयार की। केन्द्रीय विद्यालयों के प्रधानाचार्य श्री ए० के० रे तथा श्री बी० के० निगम और राजकीय बाल उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, पूसा इन्स्टीट्यूट, नई दिल्ली के प्रधानाचार्य श्री एन० के० चौधरी भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने मौलिक पाण्डुलिपि की समीक्षा की और सुधार हेतु मूल्यवान सुझाव दिए।

परिषद्, डा० टी० एन० चतुर्वेदी, अध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग, राजकीय आर० आर० कालेज, अलवर की भी आभारी है जिन्होंने पाण्डुलिपि की विधीक्षा की, और डा० आर० एन० गोयल की भी जिन्होंने पाण्डुलिपि का हिन्दी में अनुवाद किया।

मैं सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग के अपने भूतपूर्व सहयोगी श्री बी० एन० पाल, रीडर, श्री धर्मपाल जैन, रिसर्च एसोसियेट तथा प्रोफेसर बी० एस० पारख के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने पुस्तक परियोजना से लेकर इसको संपूर्ण करने तक प्रत्येक चरण पर अपना मूल्यवान योगदान दिया।

पी० एल० मल्होत्रा
निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और
प्रशिक्षण परिषद्

नई दिल्ली
दिसम्बर 1985

विषय-सूची

अध्याय I

विषय प्रवेश

शहरी और ग्रामीण जनता के बीच असमानता बढ़ रही है। साथ ही ग्रामीण क्षेत्रों में धनी तथा निर्धन के बीच असमानता की खाई और बढ़ती जा रही है। इस बढ़ती हुई असमानता ने ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वालों के जीवन स्तर को ऊपर उठाने और उनके लिए विकास कार्यक्रमों पर शीघ्रता से कार्य करने की आवश्यकता की ओर ध्यान आकर्षित किया है। पिछले 25 वर्षों में विश्व के अनेक देशों में ग्रामीण विकास के लिए विभिन्न योजनाओं को कार्यान्वित किया गया है। भारत में इस दिशा में सामुदायिक विकास परियोजना के माध्यम से कृषि उत्पादन में वृद्धि और ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसर बढ़ाने के लिए एक शुरुआत की गई थी।

कुछ वर्ष पूर्व तक कृषि उत्पादन और उससे मिलते-जुलते क्षेत्रों, जैसे पशुपालन, डेरी, वन, मत्स्य-पालन के विकास और मानवीय सुविधाओं जैसे, पीने का पानी, सड़क, स्कूल, अस्पताल, गाँवों को विद्युत आदि की सुविधा जुटाने को ही ग्राम्य विकास माना जाता रहा। विद्युत शक्ति का उत्पादन कर गाँवों को उपलब्ध कराना एक महत्त्वपूर्ण कार्य माना गया है। एक विशेष मानव समुदाय (निर्धन ग्रामीण) की आर्थिक और सामाजिक उन्नति एवं जागृति के लिए ग्रामीण क्षेत्रों की उन्नति करनी होगी। इस कार्यक्रम का लाभ निर्धन ग्रामीण तक पहुँचाया जाना है जिससे उसका जीवनयापन भलीभाँति हो सके और वह अपना विकास करने में समर्थ हो। अब ग्रामीण विकास का दृष्टिकोण क्षेत्रीय आधार की अपेक्षा समग्र ग्राम समुदाय के विकास पर अधिक बल देता है। पूर्ववर्ती विकास कार्यक्रमों से प्राप्त अनुभवों से योजनाकारों एवं प्रशासकों को ग्राम्य विकास कार्यक्रमों की योजना बनाने और उसे क्रियान्वित करने में बड़ी सहायता मिली है।

विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (1949) ने अपनी रिपोर्ट में ग्राम्य जीवन के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है: "नगरों का विकास गाँवों में होता है और नगरवासी निरंतर ग्रामवासियों के परिश्रम पर ही पनपते हैं। जब तक राष्ट्र का ग्रामीण जीवन कर्मठ है, तब तक ही देश की शक्ति और जीवन आरक्षित हैं। जब लम्बे समय तक शहर गाँवों से उनकी आभा

और संस्कृति को लेते रहते हैं और बदले में कुछ नहीं देते (जैसा भारत में पिछली दो शताब्दियों से हो रहा है), तब वर्तमान ग्रामीण जीवन तथा संस्कृति के साधनों का ह्रास होता जाता है और राष्ट्र की शक्ति कम होती जाती है।"

समग्र रूप में ग्राम्य विकास प्राकृतिक और मानवीय दोनों ही साधनों के विकास पर निर्भर करता है जिसकी क्रियान्विति एक परिभाषित दायरे में होती है। ऐसे साधन जो ग्रामीणों को गरीबी से ऊपर उठाने के लिए आवश्यक हैं और जिनकी कमी है, उनको ढूँढ़ना भी ग्राम्य विकास में शामिल है। समग्र ग्राम विकास में केवल कृषि विकास अथवा कृषि उत्पादन में वृद्धि को ही शामिल नहीं किया जाता। इसके अंतर्गत तो सभी उत्पादक कार्यों, जैसे द्वितीयक, तृतीयक एवं फसल उगाने के अलावा सभी प्राथमिक क्षेत्रों के विकास कार्य को शामिल किया जाना है। उत्पादन और उत्पादकता की वृद्धि के लिए आवश्यक उपायों को अपनाने के साथ-साथ पूर्ण रोजगार के अवसर प्रदान करना भी आवश्यक है, तभी गरीबी को दूर किया जा सकेगा। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि विज्ञान और तकनीकी ज्ञान हमारे लिए निश्चय ही सहायक होंगे, परन्तु वे स्वतः ही कार्य संपन्न नहीं कर पाएँगे और न ही जादू की छड़ी बनकर ग्राम्य विकास कर गरीबी दूर कर सकेंगे।

ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी और बेरोजगारी की समस्याओं को खंडों में हल नहीं किया जा सकता। इसे तो समग्र रूप में ही सुलझाना होगा। एक-एक कर समस्याएँ लेने की अपेक्षा समग्र के एक भाग के रूप में इनको हल करना चाहिए। ग्राम्य विकास के कार्यक्रमों को अपनाते समय लोगों की सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक भावना को भी ध्यान में रखना होगा। ग्राम्य विकास की योजना में कृषि के विकास को अत्यधिक प्राथमिकता देनी होगी। डेरी, दूध देने वाले पशुओं का पालन, मुर्गी पालन, मत्स्य पालन, वन विकास, सूअर तथा इनसे प्राप्त पदार्थों, कुटीर एवं लघु उद्योगों तथा सड़क विकास यातायात और संदेशवाहन की सुविधाओं, शिक्षा तथा जन-स्वास्थ्य के विकास कार्यों पर भी समुचित ध्यान देना होगा। इस प्रकार की मिली-जुली ग्राम्य विकास योजना ही ग्रामीणों की कार्यकुशलता में सुधार ला सकेगी। ग्राम्य विकास के ये कार्यक्रम एक क्रम में ही लेने होंगे, क्योंकि इनको पूरा करने में समय लगेगा। निर्धनों के विकास के लिए इस प्रकार का कार्यक्रम कार्यशील होना चाहिए। ऐसी परियोजना बनाते समय साधनों की कमी को भी ध्यान में रखना होगा, क्योंकि ग्रामीण क्षेत्र अल्पविकसित हैं। साधनों की कमी, तकनीकी ज्ञान की कमी, प्रेरणा की कमी अथवा कार्यक्रम गठित करने के लिए आधारभूत ढाँचे का अभाव, कुछ भी इसका कारण हो सकता है। इन सभी समस्याओं का हल एक समग्र ग्राम्य विकास योजना में ही मिल सकता है।

अध्याय 2

भारतीय कृषि का भौतिक परिपार्श्व

प्राकृतिक साधनों का देश के आर्थिक जीवन पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। मनुष्य अपने ज्ञान एवं बुद्धि में वृद्धि कर सकता है। प्रकृति पर भी वह चाहे जितनी विजय प्राप्त कर ले, अन्ततः उसे अपने आर्थिक जीवन के विकास के लिए पृथ्वी से प्राप्त साधनों पर ही निर्भर करना पड़ता है। भौतिक उपकरणों जैसे स्थलाकृतियों, मिट्टी, जलवायु और वनस्पति एवं प्राणी समूह आदि प्राकृतिक कारकों के अंतर के कारण ही भूमि के प्रयोग, जनसंख्या के घनत्व, कृषि उपज, खनिज पदार्थ, जल और शक्ति की उपलब्धि देश के विभिन्न भागों में एक सी नहीं है।

भौगोलिक स्थिति

भारतीय गणतंत्रीय संघ एक विशाल देश है। इसका सम्पूर्ण भाग उत्तरी गोलार्द्ध में स्थित है। यह देश 8 उत्तरी अक्षांश से 37 उत्तरी अक्षांश और 68 पूर्वी देशांतर से 97 पूर्वी देशांतर तक फैला हुआ है। यह दक्षिणी एशिया के केन्द्र में स्थित है और तीन अनियमित असामान्य उपद्वीपों में आकार में सबसे बड़ा है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की दृष्टि से विश्व के सभी देशों में इसकी स्थिति सबसे अधिक अनुकूल है। उत्तर से दक्षिण की ओर इसकी लम्बाई 3,214 किलोमीटर और पूर्व से पश्चिम की ओर 2,933 किलोमीटर है। पूर्व से पश्चिम तक इसकी सीमा 15,200 किलोमीटर लम्बी है। इसकी तटीय लम्बाई पूर्व से पश्चिम तक 6,100 किलोमीटर है। देश की आकृति त्रिकोण के समान है। हिमालय की पर्वतमालाओं द्वारा यह एशिया के अन्य देशों से पृथक किया गया है और शेष तीन ओर से समुद्र से घिरा हुआ है।

भारत का क्षेत्रफल 32, 87, 782 वर्ग किलोमीटर है। सन् 1971 में हुई जनगणना के आधार पर इसकी जनसंख्या 54, 79, 49, 809 थी। जनसंख्या की दृष्टि से विश्व का यह दूसरा बड़ा देश है और जनसंख्या के घनत्व की दृष्टि से यह सातवाँ बड़ा देश है। यह गणतंत्र 22 राज्यों और 9 केन्द्र-शासित प्रदेशों से मिलकर बना है। सन् 1971 की जनगणना के आधार पर ग्रामीण क्षेत्रों की जनसंख्या 80.13 प्रतिशत थी।

आकार बड़ा होने के कारण भारत को कुछ लाभ भी प्राप्त हैं। प्रथम, इतने बड़े क्षेत्र के कारण विभिन्न प्रकार के खनिज-पदार्थ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। द्वितीय, जलवायु की विभिन्नता के कारण विभिन्न प्रकार की फसलें उपजती हैं। इसके अतिरिक्त इसकी लम्बी तटीय सीमा के भी अपने कई आर्थिक लाभ हैं।

प्राकृतिक लक्षण

स्थान वर्णन—भारत की कुल भूमि के 10.7 प्रतिशत भाग में पर्वतमालाएँ फैली हुई हैं। पर्वतीय भाग की लगभग 95 प्रतिशत भूमि कृषि के लिए अनुकूल नहीं है। पर्वतीय भाग का लगभग दो-तिहाई भाग जम्मू व कश्मीर प्रदेश के अंतर्गत आता है। शेष एक-तिहाई भाग पूर्वी भारत, उत्तर-पश्चिमी भारत और उत्तरी भारत में फैला हुआ है।

भारत की कुल भूमि का 18.7 प्रतिशत भाग पर्वतीय क्षेत्र है। यह पूर्वी भारत, मध्य भारत, दक्षिणी भारत और पश्चिमी भारत में फैला हुआ है।

भारत की कुल भूमि का 27.7 प्रतिशत भाग पठारी है। मध्य भारत में यह 50 प्रतिशत है। शेष भाग उत्तर-पश्चिमी भारत, दक्षिणी भारत और पूर्वी भारत में स्थित है। कुल भूमि का 43 प्रतिशत मैदानी भाग है, जो समस्त भारत में फैला हुआ है। मैदानी भाग खेती-बाड़ी के लिए बहुत उपयुक्त है।

भारतीय उपमहाद्वीप भूमध्य रेखा के उत्तरी भाग में स्थित है। इसके तीन भाग हैं। (1) हिमालय क्षेत्र, (2) सिंधु-गंगा का मैदान, (3) दक्षिणी पठार।

(1) **हिमालय का क्षेत्र** : यह भाग 2,400 किलोमीटर तक फैला हुआ है। पूर्व में ब्रह्मपुत्र तक और पश्चिम में सिंधु नदी तक के क्षेत्र में पाँच प्रदेशों की सीमाएँ आती हैं। जम्मू व कश्मीर, हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश का उत्तरी भाग, उत्तर-पूर्वी भाग में पश्चिमी बंगाल व असम के पर्वतीय क्षेत्रों में हिमालय का भाग फैला हुआ है। इन क्षेत्रों में धरातल की ऊँचाई में 240 से 320 किलोमीटर तक की भिन्नता पाई जाती है। यह क्षेत्र मुख्य रूप से पर्वतीय है और इसमें कई ऊँची चोटियाँ हैं, यद्यपि विश्व की सबसे बड़ी चोटी माउंट एवरेस्ट (8,848 मीटर) नेपाल में स्थित है। हिम से ढकी हुई हिमालय की पर्वत शृंखलाएँ तीन समानान्तर शृंखलाओं में बँटी हुई हैं। इनमें अनेकों पठार और घाटियाँ हैं। कुछ घाटियाँ, जैसे कश्मीर और कुल्लू की घाटियाँ बहुत ही उपजाऊ हैं। इसी क्षेत्र से उन सभी नदियों का उद्गम होता है जिनसे कृषि-सिंचाई, विद्युत-उत्पादन तथा नौ-परिवहन होता है और इन्हीं पर आर्थिक विकास निर्भर करता है।

आर्थिक दृष्टि से यह भाग अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें पर्वतीय नमक, जिप्सम, कोयला, मैग्नेसाइट, डोलोमाइट और पैट्रोल आदि के बड़े भंडार हैं। इस भाग में कई प्रकार की उपज भी होती है। धान, गन्ना आदि फसलें तथा अनेक प्रकार के फल इस भाग में विशेषकर उपजते हैं। वन क्षेत्र भी बहुत बड़े भाग में फैला हुआ है जिससे अच्छी मात्रा में लकड़ी प्राप्त होती है।

(2) **सिंधु-गंगा का मैदान :** यह भाग 2414 किलोमीटर लम्बाई में और 241 से 321 किलोमीटर तक चौड़ाई में फैला हुआ है। सिंधु, गंगा और यमुना तीन नदियों के मैदानों से यह क्षेत्र बना है। इस क्षेत्र के चार भाग हैं—

(i) उत्तरी प्रदेश (पूर्वी भाग को छोड़कर) (ii) गंगा का निचला मैदान (समस्त बिहार, हिमालय के क्षेत्र को छोड़कर पश्चिमी बंगाल और उत्तर प्रदेश का पूर्वी भाग) (iii) गंगा पार का मैदान (पंजाब के मैदान, राजस्थान और मध्य प्रदेश का निचला भाग) तथा (iv) मरुभूमि का क्षेत्र (पश्चिमी राजस्थान)। यह क्षेत्र सबसे अधिक उपजाऊ है। यहाँ चिकनी मिट्टी की मोटी तह जमी होती है जो बहुत उपजाऊ होती है और प्रत्येक प्रकार की फ़सल उपजाने के लिए उपयुक्त होती है। यह मैदानी भाग विश्व के सबसे अधिक उपजाऊ मैदानों में से एक है और इसलिए यहाँ जनसंख्या का घनत्व भी बहुत अधिक है।

(3) **दक्षिणी पठार :** यह क्षेत्र सिंधु और गंगा के मैदान से विंध्याचल और सतपुड़ा की पर्वत शृंखलाओं द्वारा पृथक किया गया है। ये शृंखलाएँ 500 से लेकर 1335 मीटर तक ऊँची हैं और लगभग 7 लाख वर्ग किलोमीटर के क्षेत्र में फैली हुई हैं। इस क्षेत्र में राजस्थान के दक्षिणी पूर्वी पर्वतीय क्षेत्र, मध्य भारत का सम्पूर्ण पठारी भाग, उत्तर प्रदेश का पर्वतीय और पठारी भाग, छोटा नागपुर, उड़ीसा के कुछ जिले, महाराष्ट्र का कुछ भाग और दक्षिण कोंकण आदि शामिल हैं। इस भाग में अभ्रक, लोहा, कोयला, मैंगनीज, ताँबा आदि बहुमूल्य खनिज पदार्थों का भंडार है। भवन-निर्माण में प्रयोग किए जाने वाले अनेक प्रकार के पत्थर जैसे लाल पत्थर, चूना, संगमरमर आदि भी इस भाग में पाए जाते है।

पठारी भाग के एक ओर पूर्वी घाट हैं जिनकी औसत ऊँचाई 610 मीटर है और दूसरी ओर पश्चिमी घाट हैं जो धरातल से 915 से 1220 मीटर तक ऊँचे हैं। कहीं-कहीं पर तो यह 2440 मीटर तक ऊँचे हैं। पठार के दक्षिण में नीलगिरी की पहाड़ियाँ हैं। इन पहाड़ियों पर ही पूर्वी और पश्चिमी घाटों का मिलाप होता है। महानदी, गोदावरी, कृष्णा और कावेरी इस पठार की प्रमुख नदियाँ हैं। ये सभी बंगाल की खाड़ी में आकर गिरती हैं। ये नदियाँ बरसाती नदियाँ हैं। बरसात के दिनों में ये किनारे तोड़कर बहने लगती हैं, लेकिन शेष मौसमों में ये लगभग सूखी रहती हैं; इस कारण सिंचाई के लिए उपयुक्त नहीं हैं।

पश्चिमी घाट और अरब सागर के बीच एक पतली टुकड़ी है, जो कुछ स्थानों पर 64 किलोमीटर चौड़ी है। इस टुकड़ी का नाम है पश्चिमी तटीय मैदान। बरसात में बाढ़ के पानी के द्वारा उपजाऊ मिट्टी बहाकर यहाँ लाई जाती है। इसलिए यह भू-भाग वन क्षेत्रों, बागानों, नारियल और ताड़ के वृक्षों, काजू, केला, आम, पाइन एपल, रबड़, चावल, विभिन्न प्रकार के मसालों के लिए प्रसिद्ध है। पूर्वी घाट और बंगाल की खाड़ी के बीच एक और अधिक चौड़ा तटीय मैदान है। इसका नाम है पूर्वी तटीय मैदान। इस मैदान में चावल, गन्ना, जूट; नारियल, आम तथा केले की अच्छी पैदावार होती है।

जलवायु

भारत की जलवायु समीप के दो पड़ोसी क्षेत्रों से प्रभावित होती है। उत्तर में हिमालय पर्वत से महाद्वीपीय जलवायु और दक्षिण में महासागर से प्रभावित उष्ण मौनसूनी जलवायु रहती है। भारत के बड़े आकार और स्थिति के कारण यहाँ की जलवायु में विविधता पाई जाती है। राजस्थान के गंगानगर जिले में तापक्रम 49° सी हो जाता है, जबकि कश्मीर में न्यूनतम तापक्रम लगभग 4° सी रहता है। पूरे वर्ष में भी तापक्रम एक स्थान पर एक-सा नहीं रहता। इसमें भी परिवर्तन होता रहता है। उदाहरण के लिए पश्चिमी राजस्थान में मई मास में तापक्रम 50° सी तक पहुँच जाता है, जबकि जनवरी मास में यह गिरकर लगभग 3° सी तक आ जाता है।

भारत में वर्षा पूरे वर्ष में लगभग 114 सेमी० होती है, अर्थात् प्रति हैक्टेयर भूमि पर लगभग एक लाख क्विंटल जल प्राप्त होता है। लेकिन इसमें भी विविधता पाई जाती है। राजस्थान के मरुभूमि क्षेत्र में वर्षा 12.5 सेमी० और असम के पर्वतीय क्षेत्र में लगभग 1100 सेमी० तक होती है। यह भी देखा गया है कि कुछ वर्षों में देश के कुछ भागों में सूखा पड़ जाता है, जबकि अन्य भागों में बहुत अधिक वर्षा हो जाती है जिससे वे बाढ़ग्रस्त हो जाते हैं।

भारत में वर्ष को मोटे रूप से चार ऋतुओं में बाँटा जा सकता है : (1) शीत ऋतु—दिसम्बर से मार्च तक, (2) ग्रीष्म ऋतु—अप्रैल से मई तक, (3) वर्षा ऋतु— जून से प्रारम्भ होकर सितम्बर तक, (4) शरद् ऋतु—अक्तूबर से नवम्बर तक।

कृषि क्षेत्र

भारत के कृषि और पशु क्षेत्रों का निर्धारण करने में वर्षा, तापक्रम, अक्षांश, देशांतर, प्राकृतिक वनस्पति, मिट्टी, फसल और पशु सम्पत्ति पर विचार करना होगा। बहुत से लेखकों

ने भारत को विशेष कृषि क्षेत्रों में विभाजित करने के लिए स्थलाकृतियाँ, जलवायु और जन-संख्या के घनत्व को आधार बनाया है। नैशनल सैम्पल सर्वे संस्था ने देश को 25 मुख्य कृषि क्षेत्रों में और 66 उपक्षेत्रों में बाँटा है। इसके लिए प्रत्येक राज्य, केन्द्र शासित प्रदेश, जिले और जिले के भागों को एक सी जनसंख्या के घनत्व और फसल की प्रकृति तथा समुद्र के स्तर से समान ऊँचाई, यातायात और संदेश वाहन की सुविधाओं को आधार माना है।

डा० एम० एस० रनधावा के अनुसार भारत को निम्न क्षेत्रों में इस प्रकार विभाजित किया जा सकता है :

(1) **समशीतोष्ण हिमालय प्रदेश** : यह प्रदेश दो भागों में बाँटा गया है—

(क) **पूर्वी हिमालय प्रदेश** : इस क्षेत्र में असम की मिशमी पहाड़ियाँ, सिक्किम और भूटान शामिल हैं। बाहरी भागों तथा साल के घने वनों में वर्षा बहुत अधिक होती है। यहाँ मुख्यतः चाय की पैदावार की जाती है लेकिन कुछ भागों में धान की भी खेती होती है।

(ख) **पश्चिमी हिमालय प्रदेश** : इस क्षेत्र में कुमाऊँ, गढ़वाल, शिमला, कुल्लू तथा काँगड़ा की घाटियाँ, हिमाचल प्रदेश, जम्मू व कश्मीर प्रदेश शामिल हैं। यहाँ की जलवायु शुष्क है परन्तु उत्तरी भाग में शीतकाल में अधिक वर्षा होती है। बागबानी से संबंधित फल-फूल, विशेषरूप से बादाम, सेब, चैरी, आड़ू, खुमानी, नाशपाती और बेर की पैदावार यहाँ अधिक होती है। आलू, मक्का और धान की खेती इस क्षेत्र की प्रधानता है और पालतू पशु जैसे बकरी और भेड़, मांस और ऊन प्रदान करते हैं। शहद के लिए मक्खियों को भी पाला जाता है।

(2) **उत्तरी शुष्क अथवा गेहूँ का प्रदेश** : इस क्षेत्र में पंजाब, हरियाणा, दिल्ली, उत्तरी गुजरात, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश का पश्चिमी भाग तथा राजस्थान शामिल किया गया है। वर्षा की औसत 75 सेमी० से भी कम रहती है। कहीं-कहीं पर तो 20 सेमी० से भी कम वर्षा होती है। गेहूँ, जौ, चना, मक्का, ज्वार, बाजरा और कपास यहाँ की प्रधान फसलें हैं। ऊँट, घोड़ा, गधा, भेड़ और बकरी इस क्षेत्र के मुख्य पशु हैं।

(3) **पूर्वी नम अथवा चावल का प्रदेश** : इस क्षेत्र में असम, मेघालय, त्रिपुरा, मणिपुर, पश्चिमी बंगाल, बिहार, उड़ीसा, पूर्वी उत्तर प्रदेश, आंध्र प्रदेश, पूर्वी तमिलनाडु, केरल, और पूर्वी मध्य प्रदेश शामिल हैं। यहाँ औसत वर्षा 150 सेमी० रहती है। चावल, जूट, गन्ना, चाय आदि यहाँ की मुख्य उपज हैं। भैंस यहाँ का घरेलू पशु है।

(4) **पश्चिमी नम अथवा मालाबार क्षेत्र** : इस क्षेत्र में केरल, पश्चिमी तटीय पट्टी, कर्नाटक और उसके समीप के क्षेत्र शामिल है। वर्षा का औसत 250 सेमी० है। यहाँ की

मिट्टी लैटराइट है। इस क्षेत्र में बागान की ही प्रधान फसलें हैं। यहाँ नारियल की पैदावार सबसे अधिक होती है। सावा (टैपीओका), काजू, सुपारी, रबड़, मसाले, काली मिर्च और इलायची की पैदावार के लिए भी यह क्षेत्र प्रसिद्ध है। चावल यहाँ का मुख्य खाद्य पदार्थ है और इसकी खेती की जाती है।

(5) **दक्षिणी (मध्यम वर्षा वाला) अथवा मोटे अनाज (मिलट) वाला क्षेत्र :** दक्षिणी उत्तर प्रदेश, दक्षिणी गुजरात, मध्य प्रदेश, पश्चिमी आन्ध्र प्रदेश, पश्चिमी तमिलनाडु, पूर्वी महाराष्ट्र और कर्नाटक का भाग इस क्षेत्र में शामिल हैं। वर्षा 50 सेमी॰ से 100 से मी॰ तक होती है। ज्वार, बाजरा, मूँगफली, अरंडी तथा कपास की उपज की जाती है। यहाँ की मिट्टी कुछ भागों में लैटराइट और कुछ में काली है। ऊन के लिए भेड़ों को पाला जाता है। लेकिन यह ऊन अच्छी किस्म की नहीं होती।

मिट्टी के प्रकार

वोल्कर (Voelcker) ने 1893 में और लैदर (Leather) ने 1898 में भारत में पाई जाने वाली मिट्टी को चार मुख्य भागों में वर्गीकृत किया था। (1) सिंधु-गंगा के मैदान में पाई जाने वाली जलोढ़ मिट्टी, (2) कपास के लिए उपयुक्त काली मिट्टी, (3) लाल मिट्टी और (4) लैटराइट मिट्टी। अखिल भारतीय मिट्टी सर्वेक्षण समिति की हाल की रिपोर्ट के अनुसार मिट्टी को 8 वर्गों में वर्गीकृत किया गया है। यह समिति भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् द्वारा गठित की गई थी। मिट्टी के ये आठ वर्ग हैं—जलोढ़, मरुस्थलीय, क्षारीय, पास और दलदली, काली, लाल, लेटराइट और पर्वतीय मिट्टी।

(1) **जलोढ़ मिट्टी**—यह मिट्टी उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा, तमिलनाडु के कुछ भागों में पाई जाती है। इस मिट्टी में विविध प्रकार के नमक पाए जाते हैं और अनेक प्रकार की फसलें जैसे चावल, गन्ना, तम्बाकू, केला, कपास, गेहूँ, मक्का, तिलहन, सब्जियाँ और फल उगाने के लिए उपयुक्त है। लगभग 15 लाख वर्ग किलोमीटर भूमि पर यह मिट्टी विस्तृत रूप से फैली हुई है।

(2) **मरुस्थलीय मिट्टी**—यह मिट्टी शुष्क और अर्द्ध-शुष्क भूमि में पाई जाती है। राजस्थान के बड़े भागों, हरियाणा और दक्षिणी पंजाब में यह पाई जाती है। सिंधु घाटी और अरावली की घाटियों के बीच के भागों में यह मिट्टी मिलती है। थार मरुभूमि अकेली ही 1,06,000 वर्ग किलोमीटर में फैली हुई है। घुलनशील लवण की अधिक मात्रा, प्रज्वलन ताप की कमी, कैल्शियम कार्बोनेट का विविध प्रतिशत इस मिट्टी की विशेषताएँ हैं। पानी की कमी के कारण कुछ ही फसलों जैसे ज्वार, बाजरा तथा मक्का की पैदावार होती है।

(3) **क्षारीय मिट्टी**—उत्तरी भारत के लगभग 68,000 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में यह मिट्टी पाई जाती है। बिहार, उत्तर प्रदेश, पंजाब, हरियाणा, राजस्थान और महाराष्ट्र में यह मिट्टी मिलती है। अनुमानित रूप से 12,503 वर्ग किलोमीटर भूमि उत्तर प्रदेश और 12,000 वर्ग किलोमीटर भूमि पंजाब में ऊसर बन चुकी है। यह मिट्टी रेतीली और दोमट है। क्षारीय मिट्टी में नाइट्रोजन और कैल्शियम की कमी पाई जाती है। यह मिट्टी अत्यंत अभेद्य है और जल को सोखने की बहुत कम शक्ति रखती है। इस मिट्टी से अनेक प्रकार की फसलें जैसे चावल, गेहूँ, कपास, केला, बरसीम, नारियल और तम्बाकू उगाया जाता है।

(4) **पास और दलदली मिट्टी**—यह मिट्टी लगभग 150 वर्ग किलोमीटर पर पाई जाती है। आर्द्र भू-भागों में जैव पदार्थों की बड़ी मात्रा में तह जम जाने से यह मिट्टी बनी है। वर्षा ऋतु में यह मिट्टी जल से डूबी रहती है। इस मिट्टी का रंग काला होता है। यह भारी और एसिड युक्त होती है और इसमें 10 से 40 प्रतिशत जैव तल विद्यमान रहते हैं। इस मिट्टी में धान की खेती होती है।

दलदली मिट्टी उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल, बिहार के केन्द्रीय भाग, उत्तर प्रदेश में अलमोड़ा जिला और तमिलनाडु के दक्षिणी-पूर्वी तट में पाई जाती है। लगभग 18 प्रतिशत जैव पदार्थ इस मिट्टी में मिलते हैं।

(5) **काली मिट्टी**—यह मिट्टी लगभग 5,46,000 वर्ग किलोमीटर भूमि में पाई जाती है। यह आन्ध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, कर्नाटक, गुजरात, मध्य प्रदेश, तमिलनाडु, राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में मिलती है। इस मिट्टी में लौह, कैल्शियम और कार्बोनेट्स के तत्व अधिक मात्रा में पाए जाते हैं। परन्तु फासफोरस, नाइट्रोजन और जैव पदार्थ कम मात्रा में पाए जाते हैं। चीका और गहरे रंग वाली इस मिट्टी में कपास, गेहूँ, मिर्च, अलसी, ज्वार, तम्बाकू और कुसुम्भ की खेती होती है।

(6) **लाल मिट्टी**—यह मिट्टी लगभग 90,000 वर्ग किलोमीटर भूमि में फैली हुई है। तमिलनाडु, कर्नाटक, महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश, गोआ, मध्य प्रदेश, छोटा नागपुर और उड़ीसा में यह पाई जाती है। बिहार के संथाल परगना, पश्चिमी बंगाल के बाँकुरा जिले के बीरभूमि गाँव में, उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर, झाँसी, बाँदा, हमीरपुर और त्रिपुरा में भी यह मिट्टी फैली हुई है। लाल मिटटी की गहराई, रंग और उर्वरापन इन स्थानों में भिन्न-भिन्न हैं। सिंचाई की सुविधा प्राप्त होने पर इस मिट्टी से अच्छी फसल प्राप्त की जा सकती है।

(7) **लैटराइट मिट्टी**—लगभग 2,48,000 वर्ग किलोमीटर में यह मिट्टी फैली हुई है। मध्य प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा, महाराष्ट्र, कर्नाटक और असम के कुछ भाग में यह

मिट्टी पाई जाती है। यह मिट्टी उर्वरा नहीं है। इस मिट्टी में नाइट्रोजन, फासफोरस, पोटाश और जैव पदार्थों की कमी पाई जाती है।

(8) **पर्वतीय मिट्टी**—लगभग 13,300 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में यह मिट्टी फैली हुई है। मुख्यत: यह हिमाचल प्रदेश, जम्मू व कश्मीर, पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल, असम, त्रिपुरा, मेघालय, मणिपुर और नागालैंड आदि में पाई जाती है। चूने की कमी और एसिड की अधिकता इस मिट्टी की विशेषता है। अच्छी वर्षा वाले भागों में मिट्टी उर्वरा होती है और बागवानी की उपज के लिए उपयुक्त रहती है। धान की खेती भी इस मिट्टी में की जा सकती है।

अध्याय 3

सामाजिक संरचना, जनसंख्या तथा बेरोज़गारी

सामाजिक ढांचा और गाँव

ग्रामीण विकास कार्यक्रम में भारतीय सामाजिक ढाँचे में गाँव की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। गाँव से ही सामाजिक विकास कार्यक्रम शुरू होते हैं। इसका क्या कारण है? ग्रामीण समाज ही भारत है और कई दशकों तक रहेगा। राष्ट्र की 80 प्रतिशत से भी अधिक जनता अभी भी गाँवों में रहती है। अभी भी 4,389 लाख भारतीय गाँवों में बसे हुए हैं। सन् 1971 की जनगणना के आधार पर भारत के 5,67,338 गाँवों में भारतीय जनता निवास करती है। एक गाँव की औसत जनसंख्या 952 है। 5,67,338 गाँवों में से 3,52,023 गाँवों की आबादी 500 से भी कम है, जबकि इस संख्या के लगभग आधे गाँवों में 200 से भी कम की आबादी है। राष्ट्रीय आय का 44 प्रतिशत भाग कृषि से प्राप्त होता है और काफी अच्छा प्रतिशत ग्रामीण उद्योगों से। कृषि और उद्योग दोनों का ग्रामीणों द्वारा ही प्रबंध किया जाता है।

जाति प्रथा

जाति प्रथा हिन्दू समाज की एक विशेषता है। हमारे देश में यह एक प्राचीनतम संस्था है। "जाति परिवारों अथवा परिवारों के समूह का गुट है जिसको एक नाम दिया जाता है और जो एक विशेष पेशे से जुड़ा होता है।" हिन्दू समाज चार मुख्य जातियों में बँटा हुआ है : (1) ब्राह्मण धार्मिक कृत्यों को कराते हैं। वे आध्यात्मिक नेता भी कहलाते थे, (2) क्षत्रिय रणक्षेत्र में कूदते थे और देश के प्रशासन की बागडोर अपने हाथों में संभालते थे, (3) वैश्य व्यापार और व्यवसाय को चलाते थे और (4) शूद्र शारीरिक कार्य करते थे तथा अन्य तीनों जातियों की सेवा करते थे। जाति प्रथा का आधार यह है कि "जन्म द्वारा ही व्यक्ति के सामाजिक और घरेलू संबंध निर्धारित होते हैं और जीवन पर्यंत उसे खानपान, वेशभूषा, शादी-विवाह के लिए उस जाति में प्रचलित रीति-रिवाजों को अपनाना पड़ता है।" जाति प्रथा ने

ही संभवतः श्रम विभाजन को जन्म दिया है। विकास के प्रारंभिक चरणों में जाति प्रथा कठोर और वंश परंपरागत नहीं थी। परन्तु बाद में यह पूर्ण रूप से कठोर और वंश परंपरागत बन गई। किसी को भी अपनी जाति छोड़कर अपने से ऊँची जाति को नहीं अपनाने दिया जाता था और अंतर्जातीय विवाह पर पूर्ण प्रतिबंध था।

हिन्दू समाज के सदस्यों में जो मनमुटाव और कड़वाहट पाई जाती थी उसका बहुत कुछ कारण जाति प्रथा है। यहाँ तक कि हिन्दू जाति का टुकड़ों में बँट जाना भी इसी जाति प्रथा के कारण ही हुआ। भाग्यवश यह प्रथा अब टूटती जा रही है और पश्चिमी विचारों तथा आधुनिक सभ्यता के कारण अब यह बहुत सीमा तक टूट चुकी है। यातायात के साधनों के विकास ने गाँवों को बाहरी दुनिया से जोड़ दिया है। अब गाँववासी अंधविश्वास, अज्ञानता और रूढ़िवादिता से मुक्ति पा रहे हैं। उच्च जाति के लोग भी अब आर्थिक परिस्थितियों के कारण उन कार्यों को करने लगे हैं जिन्हें पहले वे अपनी प्रतिष्ठा के खिलाफ मानते थे। शिक्षा के विकास और जागृति के कारण जाति प्रथा छिन्न-भिन्न होती जा रही है। गाँधीजी के अछूतोद्धार आंदोलन ने जाति प्रथा को तोड़ने में बहुत मदद पहुँचाई है। भारतीय संविधान ने छुआछूत को दण्डनीय अपराध माना है और इसलिए यह आशा की जाती है कि शीघ्र ही हमारे देश में जाति प्रथा समाप्त हो जाएगी।

संयुक्त परिवार प्रथा

भारतीय समाज की एक विशेषता संयुक्त परिवार प्रथा भी है। भारत में यह एक बहुत ही प्राचीन संस्था है। आमतौर पर देश में आर्थिक इकाई व्यक्ति या मूल परिवार न होकर संयुक्त परिवार ही है। कुछ समय से लोगों का झुकाव मूल परिवार की ओर हो रहा है जहाँ उपार्जक अपनी पत्नी तथा बच्चों सहित अलग रहना पसंद करता है। परन्तु संयुक्त परिवार अब भी एक महत्त्वपूर्ण पारिवारिक प्रथा बनी हुई है। संयुक्त परिवार में सबसे वयोवृद्ध पुरुष परिवार का मुखिया होता है और अन्य पुरुष एवं स्त्री सदस्य उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। दूसरे शब्दों में संयुक्त परिवार के अन्दर अपने आश्रितों सहित एक से अधिक उपार्जक होते हैं और वे अपनी आय तथा साधनों को इकट्ठा रखते हैं।

अभी कुछ वर्षों से संयुक्त परिवार प्रथा धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही है। यद्यपि अभी भी यह पारिवारिक जीवन का मुख्य रूप है, तथापि अलग रहने वाले लोगों की संख्या मे वृद्धि होती जा रही है। अब पति, पत्नी और उनके बच्चों से ही परिवार कहलाता है। परिवार की इस प्रकार की परिभाषा के दो कारण बताए जाते हैं : (1) तरुण, शिक्षा प्राप्ति के पश्चात, शहरी जीवन का अभ्यस्त हो जाता है और सरकारी नौकरी अथवा शहर में रहकर व्यापार

करने के लिए शहर में ही बस जाता है। इस प्रकार उसे संयुक्त परिवार को छोड़ना पड़ता है। (2) एक व्यक्ति को अपना, अपनी पत्नी और बच्चों का जीवन-यापन करने के लिए साधन जुटाना आसान होता है, लेकिन संयुक्त परिवार के लिए साधन जुटाना बहुत कठिन हो जाता है।

संयुक्त परिवार का विघटन जाति प्रथा के विघटन से भी अधिक तेजी से हो रहा है, क्योंकि भारत में जनसंख्या की वृद्धि की गति बहुत अधिक है। इसके अलावा भारत में तेजी से फैलते व्यक्तिवादी विचारों का भी प्रभाव पड़ रहा है।

जनसंख्या

जनसंख्या के आकार और रचना से देश की आर्थिक समृद्धि जुड़ी हुई है। अत्यंत सीमित जनसंख्या होने से देश के प्राकृतिक साधनों का पूर्ण उपयोग नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत यदि जनसंख्या का आकार बहुत बड़ा हो तो देश के साधन इस बड़ी संख्या के बीच बँट जायेंगे और प्रति व्यक्ति आय कम हो जायेगी। जनसंख्या की दृष्टि से भारत विश्व का दूसरा सबसे बड़ा देश है, परन्तु यह गरीब देशों में से भी एक है।

सन् 1971 की जनगणना के आधार पर भारत की जनसंख्या 54.8 करोड़ थी। यह विश्व की जनसंख्या की 14 प्रतिशत थी, जबकि विश्व के कुल क्षेत्रफल का 2.4 प्रतिशत ही भारत के पास है। 1977 के मध्य में भारत की अनुमानित जनसंख्या 62 03 करोड़ थी।

वृद्धि की दर

तालिका 3.1 को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि सन् 1921 के जनगणना वर्ष के अतिरिक्त सभी जनगणना वर्षों में जनसंख्या में वृद्धि दर निरंतर बढ़ती गई है। परन्तु 1961 में आश्चर्यजनक वृद्धि दर पायी गयी। इसका कारण जणगणना अधिकारी यह बतलाते हैं कि जनगणना में वृद्धि, जन्म दर में वृद्धि के कारण नहीं, वरन् मृत्यु दर में तुलनात्मक भारी कमी होने के कारण हुई है। जन्म दर 1901-11 में 49.2 प्रति हजार थी और 1971-75 में 35.5 हो गई। इसकी तुलना में मृत्यु दर 1901-11 में 42.6 प्रति हजार थी और यह 1971-75 में घटकर 15.0 प्रति हजार हो गई। मृत्यु दर में कमी जनस्वास्थ्य कार्यक्रमों में सुधार सुविधाओं से ही संभव हुई है। इन सुविधाओं में वृद्धि हुई है। जनसंख्या में वृद्धि निरंतर हो रही है। परिणामस्वरूप जनसंख्या के घनत्व में भी वृद्धि हो रही है। सन् 1971 में यह घनत्व बढ़कर 178 प्रतिवर्ग किलोमीटर हो गया है। भारत कृषि-

तालिका 3.1

1901-1971 की जनसंख्या वृद्धि दर

जनगणना का वर्ष	कुल जन-संख्या (लाखों में)	प्रति 1000 पुरुष-स्त्रियों की संख्या	ग्रामीण जनसंख्या (लाखों में)	शहरी जन-संख्या (लाखों में)	दस वर्षों में वृद्धि की दर (प्रतिशत)
1901	2384	972	2125	259	——
1911	2521	964	2262	259	+5.75
1921	2513	955	2232	281	—0.31
1931	2790	950	2455	335	+11.00
1941	3187	945	2745	442	+14.22
1951	3611	946	2987	624	+13.31
1961	4392	941	3603	789	+21.51
1971	5482	930	4391	1091	+24.80
1977 (मध्य)	6203	—	—	—	+13.21

प्रधान देश माना जाता है। इसकी 80.1 प्रतिशत जनसंख्या गाँवों में रहती है और केवल 19.9 प्रतिशत शहरों में रहती है। सन् 1971 तथा पहले की जनगणना वर्षों में दी गई लिंग दर से स्पष्ट हो जाता है कि पुरुषों की संख्या स्त्रियों से अधिक है। भारत में यह विशेषता बहुत लम्बे समय से चली आ रही है। इसका कारण यह बताया जाता है कि लड़कों का जन्म लड़कियों की अपेक्षा अधिक होता है। 12 वर्ष की अवस्था तक लड़कों की अपेक्षा लड़कियों की मृत्यु भी अधिक होती है। विदेशों में इस आयु के पश्चात् लड़कों की मृत्यु लड़कियों की तुलना में अधिक होती है। फलस्वरूप लड़कियों की संख्या लड़कों की तुलना में इस आयु के पश्चात् अधिक हो जाती है। परन्तु भारत में प्रजनन की आयु वाली स्त्रियों की मृत्यु दर इतनी ऊँची रहती है कि बाद की आयु में पुरुषों की संख्या स्त्रियों से अधिक हो जाती है। जन-गणना के आँकड़ों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि साक्षरता की प्रतिशत में भी कोई

विशेष वृद्धि नहीं हुई है। 1961 में यह 24.0 प्रतिशत थी जो 1971 में बढ़कर 29.4 प्रतिशत हो गई।

जनसंख्या का पेशेवर विभाजन

जनसंख्या के पेशेवर विभाजन से सामान्य रूप से देश के आर्थिक विकास की झलक देखी जा सकती है, जिसे तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है– प्राथमिक, द्वितीयक और तृतीयक क्षेत्र। प्राथमिक उद्योगों में कृषि, वन और मछली अद्योग आते हैं। द्वितीयक उद्योगों में निर्माण, उत्खनन व भवन निर्माण को शामिल किया गया है और तृतीयक उद्योगों में वाणिज्य, यातायात सेवाओं और अन्य आर्थिक कार्यों को शामिल किया गया है। भारत की जनसंख्या का व्यवसाय की दृष्टि से वर्गीकरण इस तालिका में दिखाया गया है :

तालिका 3.2

कार्यरत व्यक्तियों का व्यावसायिक विभाजन

श्रेणी	प्रतिशत							
	1901	1911	1921	1931	1941	1951	1961	1971
(क) प्राथमिक श्रेणी	71.8	74.9	76.0	74.1		72.1	72.3	72.1
1. कृषक	50.6	49.8	44.4	45.0	प्राप्य	50.0	52.8	43.3
2. कृषि श्रमिक	16.9	20.6	17.4	24.8	नहीं हैं	19.7	16.7	26.4
3. पशुपालन, वन, मत्स्य आखेट व पौधारोपण	4.3	4.5	4.2	4.9		2.9	2.8	2.4
(ख) द्वितीयक श्रेणी	12.6	11.1	10.4	10.2		10.6	11.7	11.2
(ग) तृतीयक श्रेणी	15.6	14.0	13.6	15.1		17.3	16.0	16.7
कुल श्रमिक	100.0	100.0	100.0	100.0		100.0	100.0	100.0

सन् 1971 की जनगणना के अनुसार भारत में कार्यरत व्यक्तियों की संख्या लगभग 18 करोड़ थी। इस संख्या का 72.1 प्रतिशत प्राथमिक श्रेणी अर्थात् कृषि, वन और मत्स्य कार्यों में, 11.2 प्रतिशत द्वितीयक श्रेणी के व्यवसायों में और 16.7 प्रतिशत तृतीयक श्रेणी के व्यवसायों में लगा हुआ था। यद्यपि इन आँकड़ों से प्रत्यक्ष रूप से तुलना नहीं की जा सकती, क्योंकि विभिन्न जनगणना के वर्षों में परिभाषाएँ बदलती रही हैं तथापि इनसे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि इस संबंध में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। कृषि पर आश्रित कार्यरत व्यक्तियों का प्रतिशत कुछ देशों में इस प्रकार है—संयुक्त राज्य अमरीका 6, यूनाइटेड किंगडम 9, सोवियत संघ 50, जापान 36, पश्चिमी जर्मनी 10 और फ्रांस 20। यद्यपि भारत में 72 प्रतिशत कार्यरत व्यक्ति कृषि कार्य में लगे हुए हैं लेकिन प्रति व्यक्ति उत्पादकता कम है। संयुक्त राज्य अमरीका की तुलना में तो स्थिति बहुत ही गम्भीर है। वहाँ 10 प्रतिशत से भी कम लोग कृषि उत्पादन में लगे हुए हैं। वे इतना उत्पादन करते हैं कि एक कृषक द्वारा 20 अमरीकी तथा विदेशी व्यक्तियों के लिए आवश्यक खाद्यान्न उपलब्ध हो जाता है।

बेरोजगारी

भारत में बेरोजगारी और अल्प बेरोज़गारी की समस्या बहुत अधिक बढ़ गई है। तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या, अपर्याप्त औद्योगिक विकास और देश के विभाजन ने बेरोज़-गारी की समस्या को गम्भीर बना दिया है। हमारी पंचवर्षीय योजनाओं का एक मुख्य उद्देश्य मानव साधनों का पूर्णतम उपयोग और रोजगार के साधनों का पर्याप्त विस्तार करना है। पंचवर्षीय योजनाओं के इस प्रशंसनीय उद्देश्य के बावजूद एक योजना अवधि से दूसरी अवधि तक बेरोज़गारी में वृद्धि हो रही है। पिछले दो दशकों में बेरोज़गारी की समस्या बहुत ही विकट बन चुकी है और देश की स्थिरता और सुरक्षा के लिए बड़ा खतरा हो चुकी है। हमारे समाज के लिए इस समस्या का बना रहना, मानव साधनों का पूर्णरूप से उपयोग न करना और मानव शक्ति की योजना को कार्यान्वित न करने का सूचक है। बेरोजगारी ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में है। योजना आयोग के सदस्य डा० राजकृष्ण के अनुसार 1972-73 के वर्ष में बेरोज़गारों की संख्या 204 लाख थी जो पूरी तरह बेकार थे। अन्य किसी भी देश की तुलना में हमारे देश की यह समस्या बहुत ही गंभीर बन चुकी है। जुलाई1976 में रोजगार कार्यालयों में पंजीकृत बेरोजगारों की संख्या 97.4 लाख थी। 1962 से अब तक की अवधि में बेरोज़गार पंजीकृतों की संख्या में 12 प्रतिशत की वृद्धि चिंताजनक है। इस प्रवृत्ति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बेरोजगारों की संख्या प्रति वर्ष 7 लाख की दर से बढ़ रही है। यदि हम इस संख्या में पिछली बेरोज़गारों की संख्या को जोड़ें, तो मार्च 1977 में बेरोज़गारों की कुल अनुमानित संख्या 230 से 240 लाख होने की आशा है।

राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के अनुसार 1971 में बेरोज़गारों की संख्या 292.9 लाख थी जो कि तीन प्रकार की थी। खुले बेरोजगार 92.5 लाख, अत्यंत बेरोज़गार 122.0 लाख तथा अपूर्ण रोज़गार जो और अधिक काम करने को तैयार हैं 78.4 लाख। इन आँकड़ों में यदि अपेक्षित बेरोज़गारों के आँकड़ों को जोड़ दें तो 1983 में बेरोज़गारों की संख्या 590 लाख हो जाएगी। यदि किसी प्रकार छठी योजना 492.6 लाख लोगों को रोज़गार देने में सफल भी हो जाए तब भी बेरोज़गारों की संख्या 97·4 लाख होगी।

बेरोज़गारी के प्रकार

1. **स्वेच्छा से बेरोज़गारी** : संयुक्त परिवार प्रणाली ने आर्थिक रूप से निर्भरता को बढ़ावा दिया है और भारत में स्वेच्छा से बेरोज़गारी को प्रोत्साहित किया है। परन्तु व्यक्तिवाद की भावना के विकास और शिक्षा के प्रसार के कारण इस प्रकार की बेरोज़गारी मिटती जा रही है। परन्तु फिर भी बेरोजगारी को बढ़ावा मिला है, क्योंकि संयुक्त परिवार प्रणाली अब बेरोजगारी के विरुद्ध सामाजिक सुरक्षा प्रदान नहीं कर पाती।

2. **मौसमी बेरोज़गारी** : भारतीय कृषि मौसमी है, जो कृषक को वर्ष में 4 से 5 मास तक ही काम दे पाती है। कुटीर उद्योगों के क्षय हो जाने से सहायक रोज़गार के अवसर कम हो गए हैं और इस कारण वर्ष के बड़े भाग में कृषक बेकार रहता है। इस कारण ग्रामीण जनसंख्या में अल्प रोजगार बहुत बड़ी मात्रा में फैला हुआ है।

3. **संरचनात्मक बेरोज़गारी** : भारत में बेरोज़गारी का रूप मुख्यतः संरचनात्मक है। हमारे देश का आर्थिक ढाँचा बदल रहा है। गाँव की आत्म-निर्भरता नष्ट हो चुकी है और कुटीर तथा लघु उद्योगों को बड़े पैमाने के उद्योगों में बदला जा रहा है। ये बड़े पैमाने के उद्योग आधुनिक वैज्ञानिक खोज पर निर्धारित हैं। इस तकनीकी परिवर्तन के परिणामस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोज़गारी और अल्प रोजगारी की वृद्धि हुई है।

4. **चक्रीय बेरोज़गारी** : आर्थिक मंदी का भी भारत में बेरोज़गारी को बड़ी मात्रा में बढ़ाने में हाथ रहा है।

5· **प्रच्छन्न बेरोज़गारी** : कृषि में लगे हुए पारिवारिक श्रम को पूर्णतया प्रयोग में नहीं लाया जा रहा है। वास्तव में कृषि के उतने ही कार्य को कम पारिवारिक श्रमिक कर सकते थे। अतः कृषि में इस प्रकार की छिपी हुई बेरोजगारी को प्रच्छन्न बेरोज़गारी कहते हैं।

6. **शिक्षित बेरोज़गारी** : गाँव में रहने वाले वे व्यक्ति जो स्नातक/मैट्रिक पास हैं, कृषि तथा वह कार्य, जो कम शिक्षित द्वारा किया जा सकता है, को करना उपयुक्त नहीं समझते।

बेरोजगारी के कारण

भारत में न केवल ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में बड़ी मात्रा में बेरोजगारी फैली हुई है वरन् अल्प रोजगारी भी है। हम कह सकते हैं कि बेरोजगारी और अल्प रोजगारी भारत में निम्न कारणों से है :

1. जनसंख्या में तेजी से वृद्धि।
2. ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के सहायक अवसरों की कमी।
3. रोजगार की दृष्टि से गैर कृषि क्षेत्र का अपर्याप्त विकास।
4. छोटी कृषि जोत जो कृषक और भूमिहीन श्रमिकों को वर्ष के कुछ भाग के लिए ही काम दे पाती है। जोत के वितरण की विषमता से यह स्थिति और अधिक गंभीर बन चुकी है।
5. ग्रामीण ऋणग्रस्तता, विशिष्ट ग्रामीण जीवन और निरक्षरता आदि के कारण कृषि अर्थव्यवस्था का अलाभकर होना।
6. कुटीर उद्योगों का क्षय।
7. कृषि कार्यों के मौसमी रूप के कारण कृपकों में बेकारी उत्पन्न करना।
8. कृषि यंत्रों एवं साधनों के पुराने ढंग के होने के कारण कार्यशील पूंजी की अपर्याप्तता द्वारा परिलक्षित पूंजी की कमी।
9. ग्रामवासियों का कृषि भूमि को छोड़कर अन्यत्र जाने की अनिच्छा।
10. संयुक्त परिवार प्रणाली का कार्यरत होना, जो बेरोजगारी को सुरक्षा प्रदान करने के लिए गैर सरकारी संस्था के रूप में कार्य करती है।
11. आर्थिक संवृद्धि की कम दर।
12. सामाजिक संस्थाओं, विशेषकर जाति प्रथा, के कारण पेशेवर गतिशीलता की कमी।
13. आवश्यकताओं का रूढ़िवादी ढाँचा (सीमित क्षितिज) सोचने का सीमित क्षेत्र, आकांक्षाओं की कमी जिससे कृपकों को बहुत कम आय से ही संतोप मिल जाता है।
14. शैक्षिक पद्धति जो सफेदपोश नौकरी के आकर्षण को जन्म देती है।

उपचार

सभी अल्प विकसित देशों की भाँति भारत में भी मानव शक्ति का अतिरेक है, परन्तु आर्थिक संवृद्धि के अन्य सहयोगी कारक, विशेप रूप से पूंजीगत यंत्र, बेरोजगारी की समस्या

को और भी अधिक गंभीर बना देता है। यह समस्या मुख्य रूप से संरचनात्मक है। अतः बेकार मानव शक्ति को प्रयोग में लाने के लिए यांत्रिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है।

बेरोज़गारी और अल्प रोजगारी की समस्या विशेष रूप से ग्राम्य क्षेत्रों में बहुत सीमा तक कुटीर और लघु उद्योगों के विकास एवं विस्तार से हल की जा सकती है। ये सभी उद्योग मानव शक्ति पर आधारित हैं। विस्तृत तथा गहन खेती, यंत्रीकरण का निम्न स्तर, सिंचाई साधनों का विस्तार आदि के द्वारा कृषि विकास होना चाहिए। इनसे बेरोज़गारी की समस्या को हल करने में बहुत ही सहायता मिल सकती है।

शिक्षित व्यक्तियों को प्रादेशिक प्राथमिकताओं और शारीरिक श्रम के प्रति पूर्वाग्रह छोड़ने के लिए प्रेरित करना चाहिए। कॉलेजों में प्राप्त सैद्धान्तिक ज्ञान व्यावहारिक ज्ञान से पूरा करना चाहिए। बेरोज़गारी की समस्या का दीर्घकालिक हल शिक्षा पद्धति में सुधार लाना है। हमारी शिक्षा पद्धति में आर्थिक विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने की क्षमता होनी चाहिए। फिर भी बेरोज़गारी को दूर करने के लिए निम्नलिखित बातों पर विचार किया जा सकता है :

(1) जनसंख्या की वृद्धि पर नियंत्रण, (2) गहन कृषि—सिंचाई की सुविधाओं का विकास, एक से अधिक फसल उगाने का कार्यक्रम, मिश्रित खेती आदि, (3) औद्योगीकरण, (4) कुटीर और लघु उद्योगों का विकास—कताई, बुनाई, बर्तन बनाना, चमड़े का काम, सिलाई आदि, (5) कृषि उद्योगों का विकास—चावल कूटना, तेल पेरना, कपास ओटना, गन्ना पेरना, फूलों का आरक्षण करना आदि, (6) सामाजिक सेवाओं का विकास करना, (7) शिक्षा पद्धति में सुधार, और (8) रोज़गार कार्यालयों में विस्तार।

अध्याय 4

भूमि तथा भू-धारण पद्धति

भूमि किसी देश की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण नैसर्गिक सम्पत्ति मानी जाती है। इसका उचित उपयोग करना एक महत्त्वपूर्ण विषय है। उपयोग के आधार पर भूमि का प्रयोग इस बात की पुष्टि करता है कि इस साधन का उपयोग लोगों के लाभ के लिए किया गया है। समुचित प्रयोग न होने से यह बेकार रहती है और उत्पादन में निरंतर कमी और गिरावट होती है। भारत का कुल भौगोलिक क्षेत्र 3287.7 लाख हैक्टेयर है। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में इस कुल भौगोलिक क्षेत्र में उपजाऊ भूमि का ही विशेष महत्त्व है। विश्व के अधिकांश देशों में कुल क्षेत्रफल का केवल 32 प्रतिशत भाग उपजाऊ है, परन्तु भारत में उपजाऊ भूमि का क्षेत्रफल 46.2 प्रतिशत है। भारत में प्रति व्यक्ति कृषि भूमि केवल 0.32 हैक्टेयर है, जबकि संयुक्त राज्य अमरीका में यह 2.05 हैक्टेयर, सोवियत रूस में 2.41 हैक्टेयर और आस्ट्रेलिया में 37.44 हैक्टेयर है।

भूमि का वर्गीकरण

भूमि का वर्गीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें भूमि के विशेष वर्ग का निर्धारण किया जाता है, क्योंकि भूमि को अनेकों वर्गों में बाँटा जाता रहा है। सन् 1950 तक भूमि को पाँच वर्गों में बाँटा जाता रहा है। ये हैं : (1) वन भूमि क्षेत्र, (2) कृषि के लिए प्राप्त न होने वाली भूमि क्षेत्र, (3) अकृषि भूमि क्षेत्र जिनमें परती शामिल नहीं है, (4) परती भूमि क्षेत्र, और (5) कृषि भूमि।

परन्तु अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि भूमि का उक्त वर्गीकरण एक स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करने में असफल रहा है। कृषि योजना की आवश्यकता को यह पूरा नहीं कर पाता। अत: मार्च 1950 में एक पुन: वर्गीकरण किया गया : (1) वन, (2) बंजर और अकृषि भूमि, (3) गैर कृषि कार्यों के लिए प्रयोग की जाने वाली भूमि, (4) बेकार कृषि-भूमि (5) स्थायी पशुचर भूमि, (6) विविध वृक्षों, फसलों और कुंजों की भूमि जो शुद्ध बुवाई की

जाने वाली भूमि में शामिल नहीं है, (7) वर्तमान में हुई परती भूमि, (8) अन्य परती भूमि, और (9) बुवाई गई शुद्ध भूमि।

निम्न तालिका में इस वर्गीकरण के आँकड़े (प्रतिशत के रूप में) दिए जा रहे हैं :

तालिका 4.1

संबद्ध वर्गीकृत क्षेत्र की भूमि का क्षेत्रफल
(रिपोर्टिंग क्षेत्र से प्रतिशत)

भूमि का प्रयोग	1960-61	1970-71
(1) भौगोलिक क्षेत्रफल	3287.78 लाख हैक्टेयर	3287.78 लाख हैक्टेयर
(2) रिपोर्टिंग क्षेत्रफल	2984.58 लाख हैक्टेयर	3058.70 लाख हैक्टेयर
(1) वन	18.10 प्रतिशत	21.50 प्रतिशत
(2) बंजर और अकृषि भूमि	12.00	9.20
(3) कृषि के प्रयोग में लाए जाने वाला क्षेत्र	5.00	5.40
(4) कृषि के योग्य बेकार भूमि	6.40	5.70
(5) पशुचर भूमि	4.70	4.40
(6) विविध फल वृक्षों, कुंजों का भूमि क्षेत्र जो बुवाई की भूमि में शामिल है।	1.50	1.40
(7) वर्तमान परती भूमि	3.90	3.50
(8) अन्य परती भूमि	3.80	2.90
(9) बुवाई गई शुद्ध भूमि	44.60	46.10

भू-धारण पद्धति

भारत में कृषि उत्पादन कम केवल इसीलिए ही नहीं है कि किसान साधनहीन और बीमार है वरन् इसलिए भी है कि जो भी विनियोग के साधन उसके पास हैं वे प्राय: गैर-उत्पादक उपभोग में प्रयोग किए जाते हैं। संस्थागत कारक से ये दोनों ही कारण गहराई से जुड़े हुए हैं। ये कारक हैं—कौन भूमि का स्वामी है ? भूमि का प्रयोग किस प्रकार किया जाता है? और भूमि जोतने वाला किसके लिए उत्पादन करता है ? कुछ वर्ष पहले तक भारत में प्रचलित भू-धारण पद्धति, आर्थिक विकास और अधिक कृषि उत्पादन के लिए शक्तिशाली रुकावट बनी हुई थी। इस संबंध में ध्यान देने योग्य दो समस्याएँ हैं : (1) भू जोत पद्धति की समस्या अर्थात्

विधिक तथा प्रथागत पद्धति और (2) भू-धारण पद्धति अर्थात् वह पद्धति जिसके आधार पर भूमि को जोता जाता है और भू-स्वामी एवं खेत जोतने वाले के बीच फसल का बँटवारा किया जाता है।

भू-धारण की पद्धतियाँ

भू-धारण पद्धति से भूमि के स्वामित्व से संबंधित पद्धति का बोध होता है। भू-स्वामी किन शर्तों पर किसानों से खेती-बाड़ी कराता था अथवा उसको पट्टे पर उठाता था, इसकी भी जानकारी हो जाती है। भारत में इस संबंध में बहुत अधिक भिन्नता पाई जाती है। बड़ी-बड़ी जोतों से लेकर एक एकड़ जोत वाली भूमि तक में भिन्न शर्तों पर लाखों किसानों द्वारा खेती-बाड़ी की जाती रही है। मुख्यतः तीन प्रकार की भू-पद्धतियाँ भारत में प्रचलित थीं। ये हैं :

(अ) **भू-स्वामी वाली पद्धति :** इसे ज़मींदारी प्रथा भी कहा जाता था। इसमें ज़मींदार भूमि का स्वामी होता था। उसे भूमि का स्वामित्व सरकार से प्राप्त हुआ करता था, ज़मींदार ही सरकार को लगान देने के लिए उत्तरदायी ठहराया जाता था। जोत किसानों द्वारा की जाती थी। ज़मींदारी की प्रथा को आमतौर पर स्थायी बंदोबस्त के नाम से पुकारा जाता था। यह प्रथा पश्चिमी बंगाल, उत्तर प्रदेश के कुछ भागों और तमिलनाडु में प्रचलित थी। कुछ दशाओं में यह व्यवस्था अस्थायी भी थी। इस दशा में सरकार को चुकाया जाने वाला लगान थोड़े समय के बाद पुनः निर्धारित किया जाता था। अस्थायी पद्धति उत्तर प्रदेश, पंजाब और महाराष्ट्र में पाई जाती थी। मध्य प्रदेश में मालगुजारी प्रथा थी। सरकार द्वारा किसानों से मालगुजारी वसूल की जाती थी और ऐसे किसानों को मालगुजार का नाम दिया गया था। मालगुजार मराठा राज्य में किसान लोग थे। मालगुजारी प्रथा में भी लागत का सामयिक निर्धारण किया जाता था। ज़मींदारी प्रथा में ज़मींदारी को ही भूमि का स्वामी माना गया था। अतः उसे ही भूमि और उसके जोतने वालों की सुधार स्थिति का ध्यान रखना पड़ता था। सरकार को भी लगान की निश्चित रकम की वसूली होती थी।

ज़मींदारी प्रथा ने किसानों के साथ घोर अन्याय किया। शहरी जीवन की चमक-दमक से आकृष्ट होकर ज़मींदारों ने गाँव छोड़ दिया। गाँव की सम्पत्ति उनके चाटुकारों द्वारा देखी भाली जाने लगी। इस स्थिति में न तो भूमि में ही कुछ सुधार हुआ और न उसके जोतने वालों की दशा सुधरी। भूमि लावारिस बनकर रह गयी। फिर स्थायी बंदोबस्त की प्रथा में लगान का तो निर्धारण हो ही चुका था। अतः भूमि और उसके उत्पादन की कीमतों में वृद्धि होने से जो अतिरिक्त मुनाफ़ा होता, वह ज़मींदार की जेबों में गया। इस राशि को उसने ऐश करने में उड़ाया। इस प्रथा ने भूमि, किसान, सरकार और जनता सभी की बर्बादी की।

(आ) **स्वतंत्र एक व्यक्ति वाली प्रथा :** इसे रैय्यतवारी प्रथा भी कहा गया है। इसमें

भूमि पर राज्य का अधिकार था। भूमि रैय्यत के अधिकार में रहती थी। वह भूमि प्रयोग का अधिकार रखती थी और इस अधिकार का हस्तांतरण भी कर सकती थी तथा भूमि पर अधिकार को त्याग भी सकती थी। भूमि के आधार पर ही लगान निर्धारण किया जाता था। मालगुजारी को लगान कहा जाता था, कर नहीं क्योंकि कर से भूमि के निजी स्वामित्व का बोध होता था। किसान निजी रूप से लगान चुकाने के लिए उत्तरदायी ठहराया गया था। बंदोबस्त 20 से 30 वर्ष के लिए किया जाता था। इसके पश्चात् उसका पुनः निर्धारण किया जाता था। तमिलनाडु, असम और महाराष्ट्र में यह प्रथा पाई जाती थी।

(इ) **सामूहिक गाँव अथवा ग्राम्य समाजी प्रथा** : इसे महलवारी प्रथा कहा गया है। इस प्रथा के अन्तर्गत संबंधित गाँव एक होकर भूमि का स्वामित्व ग्रहण करते हैं। सम्पत्ति का स्वामित्व संयुक्त अथवा सामूहिक था। गाँवों को संयुक्त रूप से लगान चुकाना होता था, परन्तु सरकार लगान वसूल करने का अधिकार किसी संभ्रांत व्यक्ति को देती थी और उसी पर लगान वसूल कर सरकारी खजाने में जमा करने का दायित्व सौंपती थी। इस प्रथा में लगान वसूली और जमा करने की विधि, बंदोबस्त का समय और लगान की रकम के निर्धारण के बारे में भिन्नताएँ पाई जाती थीं क्योंकि सभी गाँवों में एक-सी विधि नहीं अपनाई जाती थी। उत्तर प्रदेश में वर्ग-विशेष के द्वारा खेती-बाड़ी करने की प्रथा पाई जाती थी, जबकि पंजाब में भूमि पर अधिकार रखने वाला ही उसे जोतता था।

भू-सुधार

भू-सुधार का अर्थ है भूमि के स्वामित्व से संबंधित दूषित प्रथा में सुधार लाना। यह कार्य निम्नलिखित आधार पर किया भी गया है :

(1) सरकार और किसान के बीच जमींदार तथा अन्य मध्यस्थों का उन्मूलन।

(2) काश्तकारी सुधार और भू-प्रथा का पुनः निर्माण।

(3) जोतों का सीमा निर्धारण और अतिरिक्त भूमि का भूमिहीन किसानों के बीच वितरण।

(4) चकबंदी तथा भू-विखण्डन की रोकथाम द्वारा कृषि की पुनर्व्यवस्था।

(5) सहकारी खेती तथा गाँवों की सहकारी व्यवस्था का विकास।

मध्यस्थों (जमींदारों) का उन्मूलन

भूमि के उचित प्रयोग के लिए सबसे पहले मध्यस्थों का उन्मूलन करना आवश्यक समझा गया। जमींदारी, जागीरदारी, मालगुजारी आदि प्रथाएँ स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व

लगभग 40 प्रतिशत भूमि पर पाई जाती थीं। इसका उन्मूलन किया गया है। मध्यस्थों ने अंग्रेजी राज्य के समय प्रायः मुफ्त में ही भूमि पर अधिकार कर लिया था। सरकार को ये लोग बहुत कम लगान देते थे। किसान को ऊँची दर पर लगान देना होता था। उसे कोई बढ़ावा अथवा भूमि उत्पादन बढ़ाने के लिए सुविधाएँ प्राप्त नहीं होती थीं। परन्तु मध्यस्थ दिन पर दिन धनी होता गया। स्वतंत्रता के बाद देश के संविधान में संशोधन किया गया और जमींदारी उन्मूलन अधिनियम को अधिकाराधीन बनाया गया। परिणामस्वरूप ज़मींदारी प्रथा का देश से द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अंत में उन्मूलन कर दिया गया। अब किसानों को अपनी भूमि का उत्पादन बढ़ाने का अवसर मिल गया है। ऐसा इसलिए हुआ है कि वर्तमान प्रथा में भूमि जोतने वाले किसानों का राज्य से सीधा संबंध जुड़ गया है। जमींदार जिन्होंने स्वयं काश्त करने के लिए भूमि रख ली है, वे भी अपनी आय में वृद्धि से भूमि में सुधार करने लगे हैं। जमींदारी उन्मूलन के लिए सरकार को लगभग 650 करोड़ रुपया व्यय करना पड़ा।

काश्तकारी सुधार

भारत में भू-स्वामियों की संख्या भी बहुत थी। रैय्यतवारी प्रथा अपनाई जाने वाले क्षेत्रों में विशेष रूप से यह संख्या अधिक थी। ये भू-स्वामी भूमि के एक भाग पर स्वयं काश्तकारी करते थे और शेष भाग से किराए के रूप में ऊँची रकम ऐंठते थे। काश्तकारों को और भी बहुत-सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। इनकी काश्तकारी भी पक्की नहीं थी। वे कभी भी भूमि से वंचित किए जा सकते थे। पट्टे पर काश्त करने वालों के हितों की सुरक्षा के लिए बहुत-सी राज्य सरकारों ने काश्तकारी सुधार कानूनों को अपनाया। इन सुधार कानूनों की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

(1) **लगान का निर्धारण** : ऊँचे लगान के भार को हल्का किया गया। काश्तकारों को अपने उत्पाद का 50 से 60 प्रतिशत लगान के रूप में देना पड़ता था। प्रथम पंचवर्षीय योजना में कुल उत्पाद का 25 प्रतिशत अधिकतम लगान निर्धारित किया गया। कुछ दशाओं में लगान की रकम को घटाया नहीं गया, वरन् उसी स्तर पर रखा गया। परंतु अभी भी सभी राज्यों में इस बारे में एकरूपता नहीं पाई जाती है।

(2) **काश्तकारी की सुरक्षा** : काश्तकारी की सुरक्षा से आशय है कि काश्तकार को एक निश्चित अवधि तक भूमि पर काश्तकारी करने के अधिकार से वंचित नहीं किया जाएगा। उन्हें 'मर्जी-पर-काश्तकार' नहीं रहने देने के लिए कानून ने सुरक्षा प्रदान की है। आर्थिक दृष्टि से ऐसी सुरक्षा की बहुत आवश्यकता है, क्योंकि यह सुरक्षा ही काश्तकार को भूमि में सुधार करने के लिए प्रेरित करती है और तभी देश के कृषि उत्पादन में वृद्धि होगी।

(3) **भूमि वापस पाने का अधिकार** : बहुत-से काश्तकारी कानूनों में भूमि वापस प्राप्त करने के अधिकार के बारे में नियम शामिल किए गए हैं। भूमि के स्वामी यदि भूमि को स्वयं जोतना चाहें तो वे काश्तकार से भूमि वापस प्राप्त कर सकते हैं। इस संबंध में भी नियमों में एकरूपता नहीं पाई जाती। व्यक्तिगत काश्तकारी करने के लिए इच्छुक भू-स्वामियों द्वारा अपना अधिकार वापस लेने के लिए चार महत्त्वपूर्ण शर्तों को पूरा करना होगा, ये शर्तें हैं : (1) व्यक्तिगत देख-रेख, (2) उसी गाँव अथवा समीप के गाँव में निर्धारित दूरी के अंदर रहना, (3) स्वयं मेहनत करना, और (4) काश्तकारी की जोखिम को स्वयं ही बर्दाश्त करना।

(4) **काश्तकार के लिए स्वामित्व** : काश्तकारी कानून का मूल सिद्धान्त है "भूमि जोतने वाले का ही भूमि पर स्वामित्व होना चाहिए।" इस सिद्धान्त को व्यवहार में लाने के लिए बहुत-सी राज्य सरकारों ने भूमि को भू-स्वामियों से खरीद लिया और काश्तकारों को दे दिया। कुछ अन्य राज्यों के कानूनों द्वारा काश्तकार को भू-स्वामी से सीधे ही भूमि खरीदने का अधिकार दे दिया गया। किश्त चुकाने, ब्याज देने और लगान चुकाने के भार से पीड़ित न हों, इसके लिए कानून में काश्तकार के लिए कुल रकम चुकाने के बारे में नियम बनाए गए हैं। भू-स्वामी होने से पूर्व जो लगान वह चुकाया करते थे उससे अधिक कुल चुकाए जाने वाली रकम नहीं होनी चाहिए।

जोतों की सीमा निर्धारण

वर्तमान भूमि सुधारों में एक महत्वपूर्ण विशेषता है व्यक्तिगत काश्तकार की जोत के आकार की सीमा निर्धारित करना। इस नीति के पीछे विचार यह है कि एक निश्चित सीमा से अधिक भूमि पर एक काश्तकार को खेती-बाड़ी न करने दी जाए। जिन लोगों के पास अतिरिक्त भूमि है उनसे वह भूमि लेकर, उसे प्राथमिकता के आधार पर वितरित कर दिया जाए : (1) व्यक्तिगत रूप से खेती-बाड़ी करने के लिए काश्तकारों से वापस भूमि लिए जाने पर भूमिरहित ऐसे काश्तकारों को, (2) अनार्थिक जोत वाले कृषकों को, और (3) भूमिरहित श्रमिकों को। जोत सीमा अधिनियम को जनवरी 1959 से लागू माना गया है। यद्यपि लगभग सभी राज्य सरकारों ने जोत सीमा अधिनियम पारित कर दिए हैं, तथापि इनको ठीक तरह से लागू नहीं कर पाए हैं। विभिन्न राज्यों में एक परिवार के लिए भू-जोत की निर्धारित सीमा 6.16 हैक्टेयर है और पाँच सदस्यों से अधिक के परिवार के लिए 24 हैक्टेयर से भी ऊपर है। कुछ राज्यों में परिवार के प्रत्येक सदस्य को अतिरिक्त भूमि दी गई है। परिवार के आकार की कोई भी सीमा निर्धारित नहीं की गई है। विभिन्न राज्यों द्वारा निर्धारित उच्चतम जोत सीमा नीचे दी गई तालिका में दर्शायी गई है :

तालिका 4.2

विभिन्न राज्यों में निर्धारित जोत की सीमा

राज्य	जोत की सीमा (हैक्टेयर में)
आन्ध्र प्रदेश	4.05-21.85
असम	6.74
बिहार	6.07-18.21
गुजरात	4.05-21.85
हरियाणा	7.25-21.85
केरल	4.86-21.85
मध्य प्रदेश	4.05-21.85
तमिलनाडु	4.86-24.28
महाराष्ट्र	7.25-21.85
कर्नाटक	4.86-21.85
उड़ीसा	4.05-21.85
पंजाब	7.00-21.80
राजस्थान	7.25-21.25
उत्तर प्रदेश	7.25-18.25
पश्चिमी बंगाल	5.00-7.00
हिमाचल प्रदेश	4.05-12.14
मणिपुर	10.12
त्रिपुरा	2.00-7.00

जोतों की चकबंदी

भू-खंडन का सर्वश्रेष्ठ उपाय चकबंदी माना गया है। योजना आयोग ने भी यह कहा है—"सभी राज्यों के कार्यक्रमों में जोतों की चकबंदी को बढ़ावा दिया जाना चाहिए और उत्साह के साथ इसको अपनाना चाहिए।"

"चकबंदी" से आशय है, एक काश्तकार के गाँव में बिखरे हुए भू-खंडों को एक ही स्थान पर लाकर रखना। चकबंदी में सर्वप्रथम गाँव के सभी भू-खंडों का एक बड़ा चक बनाया जाता है और तब उस चक के छोटे चक बनाकर गाँव के सभी किसानों के बीच बाँट दिया जाता है। ऐसा करने से भू-टुकड़ों का विखंडन समाप्त हो जाता है और भू-खंड अन्य

खंडों के समीप ले आए जाते हैं। चकबंदी बड़े पैमाने पर उत्पादन की सभी किफायतें प्रदान करती है। भूमि की उत्पादकता को बढ़ाती है और इससे भू-खंडन से होने वाली हानियाँ कम हो जाती हैं।

लगभग सभी राज्यों में जोतों की चकबंदी करने और भूमि के उपविभाजन को रोकने के लिए कानून बनाए जा चुके हैं। चकबंदी कार्यक्रम में पर्याप्त प्रगति हुई है।

356 लाख हैक्टेयर भूमि की चकबंदी 1974 तक हो गई थी। हरियाणा और पंजाब में चकबंदी का कार्य पूर्ण हो गया है। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, कर्नाटक, राजस्थान और दिल्ली में भी काफी प्रगति हुई है।

सहकारी खेती

सहकारी खेती का अर्थ है विभिन्न काश्तकारों की भूमि को एक चक बनाकर संयुक्त रूप से खेती बाड़ी करना। सहकारी खेती में किसानों को श्रमिक के रूप में मजदूरी दी जानी चाहिए। यह भाग प्रत्येक किसान को उसकी भूमि के अनुपात में दिया जाता है। बड़े किसान को बड़ा भाग और छोटे किसान को अपेक्षाकृत छोटा भाग मिलता है। मुनाफ़े में भाग मिलने के अलावा सहकारी खेत में काम करने वाले लोगों को एक वर्ष की अवधि में किए गए काम के अनुपात में बोनस भी मिलता है। इस संबंध में मूल बात ध्यान देने योग्य यह है कि किसान स्वेच्छा से अपनी भूमि को सामूहिक खेती के लिए देते हैं। उन पर किसी भी प्रकार का दबाव नहीं डाला जाता।

उपरोक्त सुझावों के बावजूद, छोटी जोतों को बड़ा करने के कार्यक्रम में दो बड़ी अड़चनें हैं। प्रथम, भारतीय किसान अपनी भूमि से इस प्रकार चिपका हुआ है कि वह इसे आसानी से छोड़ने को तैयार नहीं। प्राय: वह स्वामित्व के अधिकार को अपने पास ही रहने देना चाहता है। द्वितीय, इस निजी-संपत्ति के वातावरण में वह अपनी भू-जोत, चाहे कितनी ही छोटी क्यों न हो, को छोड़ने को तैयार नहीं होता, भले ही यह भू-जोत सहकारी खेती के लिए ली जा रही हो।

अत: उपविभाजन तथा भूखंडन की समस्या प्रशासनिक समस्या मात्र ही नहीं है। इस समस्या का हल केवल इस बात में है कि इसको देश की आर्थिक विकास समस्या का ही एक अंग माना जाए।

भू-लगान

देश के आर्थिक विकास कार्यक्रमों और दिन-प्रतिदिन के प्रशासन के खर्चों को पूरा करने के लिए सरकार के पास कराधान ही आय का मुख्य साधन है। भारतीय ग्रामीण क्षेत्रों

में लगाए जाने वाले दो महत्त्वपूर्ण कर हैं : मालगुजारी और कृषि आयकर। ये दोनों ही अन्य अप्रत्यक्ष करों के अलावा हैं। मालगुजारी शुद्ध उत्पाद पर लगाया गया एक कर है और समान दर पर लगाया जाता है। यह प्रतिगामी कर है और इस कारण इसने विरोध को जन्म दिया है। उत्पादन में अन्तर होने पर अथवा कीमत और आय में अंतर होने पर भी कर की मात्रा में कोई अंतर नहीं आता। मालगुजारी की वित्तीय महत्ता इसी कारण दिन पर दिन घटती जा रही है।

निरपेक्ष रूप से मालगुजारी से सरकार की आय में कुछ वृद्धि हुई है। यद्यपि मालगुजारी 1969-70 में 102.8 करोड़ और 1977-78 में 228.7 करोड़ थी, तथापि यह ध्यान देने वाली बात है कि यह वृद्धि मालगुजारी की दर में वृद्धि के कारण नहीं अपितु अन्य कारणों से हुई है। मालगुजारी का बोझ किसानों पर वास्तव में कम तो हुआ है क्योंकि उनकी आर्थिक स्थिति में अब काफी सुधार हुआ है। मालगुजारी में वृद्धि मुख्यतः कृषि भूमि में वृद्धि के कारण हुई है। किसान की वास्तविक आय में वृद्धि होने से भी उस पर मालगुजारी का बोझ कम हुआ है। भूमि की उत्पादकता में वृद्धि और कृषि उत्पाद की ऊँची कीमतों ने किसान की वास्तविक आय में वृद्धि की है।

भारत के विभिन्न प्रदेशों द्वारा प्राप्त मालगुजारी से आय में भी भिन्नता है। भारत की मालगुजारी की औसत दर से तुलना करने पर उन प्रदेशों में जहाँ प्रति एकड़ उत्पाद और उत्पादकता ऊँची है, मालगुजारी बहुत कम है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विभिन्न प्रदेशों में वर्तमान में मालगुजारी की दर का उत्पाद और उत्पादकता से कोई संबंध नहीं है। भूमि कराधान में समानता के सिद्धांत के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इन बातों पर पर्याप्त ध्यान देना चाहिए। राज्यों से मालगुजारी 1977-78 में 228.7 करोड़ रुपये थी।

मालगुजारी पद्धति के दोष

भारत में प्रचलित मालगुजारी पद्धति में बहुत-से दोष पाए जाते हैं। ये दोष हैं :

(1) मालगुजारी का कर भार सभी स्थानों में एक-सा नहीं है और इसकी असमानताएँ भूमि की उत्पादकता से कोई संबंध नहीं रखती हैं।

(2) छूट की किसी न्यूनतम सीमा के न होने और प्रगति सूचक न होने के कारण समानता के सिद्धान्त का भी विरोध होता है।

(3) कर निर्धारण का आधार भी उचित नहीं है और पेचीदा भी है। कर निर्धारण करते समय कृषि उत्पादन में लगे श्रमिकों को चुकाई जाने वाली मजदूरी को छूट नहीं दी गई है।

(4) मालगुजारी वसूल करने का ढंग बहुत ही कठोर और पुराने ढंग का है।

मालगुजारी की प्रकृति कुछ भी हो, एक बात स्पष्ट है कि इसे किसान की देय क्षमता के अनुरूप बनाना चाहिए और कर के समता सिद्धांत के आधार पर इसकी वसूली करनी चाहिए।

भारत में कृषि कर

भारत में, 1860 से 1865 और 1868 से 1873 के समय को छोड़ कर, सन् 1938 तक कृषि से होने वाली आय पर किसी भी रूप में कर नहीं लगाया गया। सन् 1935 में राज्य सरकारों को कृषि आय पर कर लगाने का अधिकार दिया गया। फिर भी कई राज्यों में अभी तक कृषि पर आयकर नहीं लगाया गया परन्तु भारत जैसे कृषि प्रधान देश में जहाँ बड़े-बड़े विकास कार्यक्रम शुरू किए जा चुके हैं, वित्त नीति में कृषि आय पर कर लगाना अब बहुत ही महत्वपूर्ण बन चुका है। आर्थिक विकास के लिए अब इस साधन का प्रयोग करना होगा। देश की अर्थव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण भूमिका होते हुए भी कृषि क्षेत्र की कुछ अनोखी विशेषताएँ हैं। साधनों को जुटाने की किसी भी परियोजना में इन विशेषताओं पर उचित ध्यान देना आवश्यक है। ये विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

1. खेती करने वालों में अधिकांश के पास छोटी जोत है और उन्हें प्राकृतिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।
2. कृषि क्षेत्र में लोगों की आय में अत्यधिक असमानता है।
3. कृषि क्षेत्र में बचत की मात्रा बहुत कम है और कृषि में निवेश की आवश्यकता को पूरा करने के लिए बहुत ही अपर्याप्त है।
4. कृषि-आय पर कर निर्धारण का अधिकार केन्द्रीय सरकार को नहीं है। ऐसा केवल राज्य सरकार ही कर सकती है।

बहुत से राज्यों ने कृषि आय पर कर लगाना शुरू कर दिया है। असम, बिहार, जम्मू व कश्मीर, केरल, महाराष्ट्र, कर्नाटक, राजस्थान, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बंगाल से प्राप्त होने वाली कर राशि कुल कृषि आय कर का बड़ा भाग (97.5 प्रतिशत) है। परन्तु कृषि आयकर वसूली की प्रथा सभी प्रदेशों में एक-सी नहीं है। एक राज्य और दूसरे राज्य के बीच छूट की सीमा में भी अंतर है। यह सीमा 3000 रुपये से 6000 रुपये तक है, जबकि सामान्य छूट की सीमा प्रति जोत 3,500 रुपये निर्धारित हुई है।

यद्यपि कृषि आय से प्राप्त कर की राशि प्रत्येक योजना अवधि में निरपेक्ष रूप में

बढ़ती जा रही है, तथापि कुल आय से इस आय का प्रतिशत घटता ही जा रहा है। प्रथम और द्वितीय योजना में यह कुल आय का 2 प्रतिशत था, तृतीय योजना में यह घटकर 1.4 प्रतिशत ही रह गया। सन् 1968-69 में घटकर यह 0.7 प्रतिशत ही रह गया है। राज्य सरकारों को कृषि आयकर से राजस्व प्राप्तियाँ 1977-78 में 28.7 करोड़ रुपये थीं।

असम, केरल, तमिलनाडु से प्राप्त कृषि आयकर की वसूली कुल वसूली का 70 प्रतिशत थी। इन प्रदेशों में बागान की प्रधानता है। बिहार, जम्मू व कश्मीर, महाराष्ट्र, उड़ीसा, राजस्थान, मध्य प्रदेश और पश्चिमी बंगाल में यह आय नाम मात्र है। आन्ध्र प्रदेश, गुजरात, मध्य प्रदेश और पंजाब में यह कर लगाया ही नहीं गया है।

यह ध्यान देने वाली बात है कि बहुत-से प्रदेशों में कृषि आयकर, आय प्राप्त करने का लाभप्रद साधन नहीं है। इसके कारण हैं— (1) बहुत-से प्रदेशों में छूट की सीमा बहुत ऊँची है और राज्यों के बीच इस सीमा में बहुत अंतर है, विशेष रूप से जहाँ जोत के आकार को आधार माना गया है। (2) बड़े-बड़े काश्तकार आसानी से कर से बचने में समर्थ हो जाते हैं। वे अपनी जोत अपने बेटों और रिश्तेदारों में बाँट देते हैं। (3) बहुत-से राज्यों में कृषि आयकर को वित्तीय आवश्यकता के आधार पर लादा गया है, कृषि आय को गैर कृषि आय के समान स्तर पर लाने के लिए विचार नहीं किया गया। फलतः कृषि आयकर का प्रशासन विषम है और कर की वसूली कठिन बन चुकी है क्योंकि किसानों द्वारा आय-विवरण नहीं बनाया जाता। (4) मौसम की अनिश्चितता भी कृषि आयकर की वसूली को कम करने में योगदान देती है। (5) खेतों से आय निर्धारण की पद्धति भी निश्चित रूप से प्रमाणित नहीं की गई है। प्रायः यह मनमाने ढंग से निर्धारित की जाती है।

कृषि जोत पर कर के लिए राज कमीशन की रिपोर्ट

राज कमीशन ने यह सुझाव दिया था कि संवैधानिक और प्रशासनिक कठिनाइयों को दूर करने के बाद ही कृषि आय पर कर लगाना चाहिए। कृषि सम्पत्ति और आय को ध्यान में रखकर ही यह कर लगाना चाहिए। जोत की सीमा निर्धारण से संबंधित कानूनों को पूर्णतया लागू करने के पश्चात भी यह सम्भव है कि किसानों की ऐसी एक बहुत बड़ी संख्या रह जाए जिसका आय-स्तर राष्ट्रीय आय स्तर से बहुत ऊँचा हो। अतः इस कमीशन ने कृषि जोत पर कर लगाने का सुझाव दिया। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु कमीशन ने कहा कि देश को कृषि-जलवायु दृष्टि से एक ही तरह के बहुत-से क्षेत्रों में विभाजित किया जाए। जिससे कि उत्पादकता को प्रभावित करने वाले अंतर पर नियंत्रण पाया जा सके। भिन्न-भिन्न उपज का प्रत्येक वर्ष के लिए प्रति हैक्टेयर उत्पाद-गुणांक गत दस वर्षों में हुई अनुमानित पैदावार पर आधारित

होना चाहिए। पिछले तीन साल के औसत उपज मूल्यों को ध्यान में रखते हुए इस पदावार को रुपयों में बदलना है। इस प्रकार प्रति हैक्टेयर भूमि के दरनिर्धार्य (ratable) मूल्यों का निर्धारण इन्हीं प्रतिमानों पर किया जाएगा। सिंचाई और विकास की लागत पर पर्याप्त छूट दी जानी चाहिए। शुरू में मालगुजारी के स्थान पर कृषि जोत कर लगाया जाए। 5000 रुपये और इससे अधिक आय वाली सभी कृषि जोतों पर यह कर लगाया जाए। अंत में यह प्रणाली राज्य सरकार की सुविधा पर 5000 रुपये से कम आय वाली कृषि जोतों पर भी लागू की जानी चाहिए। सम्पत्ति कर और पूंजीगत आय-कर की प्रणाली के माध्यम से कृषि सम्पत्ति की एकीकृत कर-प्रणाली के लिए भी इस कमीशन ने सुझाव दिया था। कमीशन ने यह भी सुझाव दिया कि छूट की सीमा 1.5 लाख रुपये तक बढ़ा दी जाए। जहाँ तक हो सके, सम्पत्ति कर में दी गई अन्य सभी छूटें समाप्त कर देनी चाहिएँ।

योजना आयोग ने राष्ट्रीय विकास परिषद् के सम्मुख जो 1978-83 के लिए योजना का प्रारूप प्रस्तुत किया था उसमें प्रत्यक्ष कृषि आय-कर को लागू करने के लिए मालगुजारी पर प्रगतिशील दर पर सरचार्ज लगाने अथवा व्यापारिक फसलों के औसत पर सरचार्ज लगाने की बात कही थी। बड़े किसानों को लाभ पहुँचाने वाली कृषि क्षेत्रफल में दी जाने वाली सहायता पर भी विचार कर लेना चाहिए। विक्रय-उत्पाद पर प्रगतिशील दर से कर (cess) लगाने की बात भी सुझाई गई है।

यह स्पष्ट है कि कृषि पर लगाए जाने वाले कर मुख्यतः भू-लगान, स्टाम्प शुल्क, पंजीकरण शुल्क आदि के रूप में ही रहे हैं। वास्तव में कृषि आय पर कर लगाया ही नहीं गया है। यद्यपि छोटी भू-जोतों को भू-लगान से मुक्त रखना न्यायसंगत माना जा सकता है, किंतु उच्च आय वर्ग के कृषकों को कर मुक्त करना तर्क संगत नहीं है। ऐसे कृषकों पर कर लगाने से न केवल राज्य सरकारों को पर्याप्त आय होगी अपितु देश की कर-पद्धति में आवश्यक संतुलन भी आएगा।

अध्याय 5

कृषि एवं उत्पादकता

प्राय: अल्पविकसित देशों में यह समझा जाता है कि आर्थिक विकास और औद्योगिक विकास एक ही बात है। अत: कृषि विकास पर औद्योगिक विकास के संदर्भ में ही विचार किया जाता है। परन्तु यह ध्यान में रखने वाली बात है कि कृषि का पिछड़ापन आर्थिक तथा औद्योगिक विकास की धीमी गति का ही परिणाम है। समतल विकास कार्य के लिए कृषि और उद्योग दोनों का ही साथ-साथ विकास करना आवश्यक है। हमारे देश में आज सभी क्षेत्रों में सर्वाधिक महत्त्व वाला क्षेत्र कृषि है।

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में कृषि का महत्त्व

कृषि तथा संवद्ध धंधे जैसे पशुपालन एवं मछली पालन भारतीय अर्थ-व्यवस्था की रीढ़ की हड्डी हैं। पंचवर्षीय योजनाओं में औद्योगीकरण को बढ़ावा मिलने पर भी कृषि को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला हुआ है। भारतीय जनता का मुख्य धंधा कृषि है। कुल जनसंख्या का 72 प्रतिशत कृषि में ही लगा हुआ है। निम्नलिखित मूलभूत तत्वों के कारण भी कृषि का महत्त्व है।

1. **राष्ट्रीय आय में इसका भाग**--भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि क्षेत्रक महत्त्वपूर्ण है। राष्ट्रीय आय में इसका बड़ा भाग रहता है। 1976-77 में, 34,212 करोड़ रुपये के कुल शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद (1970-71 के मूल्य पर) में से अकेले कृषि क्षेत्र ने 44·2 प्रतिशत का योग किया था। अन्य कोई भी क्षेत्र अपने आप में कृषि क्षेत्र का मुकाबला नहीं कर सका। यह सच है कि द्वितीयक और तृतीयक क्षेत्रकों में तेजी से विकास होने के कारण कृषि क्षेत्रक का भाग कम रह गया है। गतिवर्द्धित प्रगतिशील क्रिया के कारण विशेषतया विनिर्माण क्षेत्रक में, यह अच्छी बात है कि कृषि क्षेत्रक का भाग 1960-61 में 52·5 प्रतिशत से घट कर 1976-77 में 44·2 प्रतिशत हो गया है। तथा विनिर्माण क्षेत्रक का भाग थोड़ा-सा ही बढ़ा है। कृषि अर्थव्यवस्था का स्वरूप घाटे के स्थान पर फायदे वाला हो गया है और इस प्रकार के कदम उठाए जा रहे हैं कि अतिरिक्त उत्पाद कृषक के लिए लाभप्रद सिद्ध हो। वर्ष 1977-78 में

खाद्य पदार्थ अन्न का उत्पादन (1256 लाख टन) एक रिकार्ड था। भारत की तुलना में राष्ट्रीय आय में कृषि का अनुपात यू० के० में 3.1 प्रतिशत, यू० एस० ए० में 3.2 प्रतिशत, कनाडा में 5 प्रतिशत, फ्रांस में 6 प्रतिशत, जापान में 8.7 प्रतिशत और आस्ट्रेलिया में 7.6 प्रतिशत है।

2. जीविका के साधन के रूप में कृषि—भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि क्षेत्रक गहरे रूप से छाया हुआ है। सन् 1971 की जनगणना के अनुसार यहाँ की कार्यशील जनता का 72.5 प्रतिशत कृषि पर निर्भर करता है। विकसित देशों में यह अनुपात बहुत कम है, जैसे यू० एस० ए० में केवल 4 प्रतिशत और आस्ट्रेलिया में 16 प्रतिशत। इसके अतिरिक्त एक बड़ी संख्या में लोगों की जीविका ऐसे धंधों से है जोकि कृषि पर ही निर्भर है। जैसे कृषि उत्पादन का भंडार करना, प्रक्रमण करना, व्यापार करना तथा उसको ढोना। कृषि का ऊँचा अनुपात होने का मुख्य कारण यह है कि देश में तेज़ी से बढ़ती हुई जनसंख्या को रोज़गार देने का कृषि का कोई विकल्प अभी तक नहीं बन पाया है।

3. उद्योग के लिए कृषि का महत्त्व—कृषि का उचित विकास किए बगैर उद्योग तेजी से विकसित नहीं हो सकेंगे। इसका मुख्य कारण यह है कि उद्योगों द्वारा आवश्यक बहुत-सा कच्चा माल कृषि से ही उपलब्ध होता है। उदाहरण के लिए सूती वस्त्र, जूट, चीनी और वनस्पति जैसे उद्योग कच्चे माल के लिए कृषि पर ही आश्रित हैं। बागान उद्योग जैसे चाय, कहवा, रबड़ आदि भी प्रत्यक्ष रूप से कृषि पर ही निर्भर करते हैं। बहुत-से ऐसे भी उद्योग हैं जो परोक्ष रूप में कृषि पर निर्भर करते हैं। ये हैं धान को कूटना और छिलका निकालना, तेल निकालना, हैंडलूम और खादी का कपड़ा बुनना आदि। अन्य बहुत-से उद्योग जैसे कागज, चमड़ा कमाना और दियासलाई तथा रसायन उद्योग कृषि के दूसरे रूप जैसे वन, पशुपालन, मत्स्य पालन आदि पर निर्भर करते हैं। बहुत-से आधुनिक उद्योग कृषि पर कच्चे माल के लिए निर्भर नहीं करते परन्तु वे कृषि उत्पादन जैसे उर्वरक, कृषि मशीन तथा अन्य साजोसामान बनाते हैं। अस्तु, दोनों ही कृषि उद्योग एक दूसरे पर निर्भर हैं।

4. कृषि और भारत का विदेशी व्यापार—भारतीय कृषि का मूल्यवान विदेशी मुद्रा कमाने में बड़ा हाथ रहा है। कृषि पदार्थों के निर्यात से सन् 1965-66 में 305 करोड़ रुपया प्राप्त हुआ और 1974-75 में 1345 करोड़ रुपया (निर्यात का 42.3 प्रतिशत) प्राप्त हुआ। निर्यात की मुख्य वस्तुएँ थीं : चाय, कहवा, काजू, मसाले, तम्बाकू, कच्ची खालें, कच्चा जूट और सूती वस्त्र, चमड़े का सामान, साबुन, वनस्पति तेल, सुपाड़ी, लाख, गोंद, रेजिन आदि। इन वस्तुओं के निर्यात से परम आवश्यक मशीनें, उर्वरक और तकनीकी ज्ञान के आयात के लिए विदेशी मुद्रा का अर्जन होता है।

5. तृतीयक क्षेत्रक और कृषि—तृतीयक क्षेत्रक में व्यापार, यातायात सेवाओं आदि क्षेत्रों में भी कृषि का बड़ा योगदान है। हमारे यातायात के ढांचे को कृषि से अत्यधिक सहायता प्राप्त होती है और यह निर्माण उद्योगों को भी मदद करता है। कृषि सरकारी आय में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों रूप से ही वृद्धि करती है।

अतः कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ की हड्डी मानी जाती है और कृषि की समृद्धि का प्रभाव समस्त अर्थव्यवस्था की समृद्धि पर लक्षित होता है।

कृषि उत्पादन

भारत में अधिकतर किसान अपने परिवार की परम आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ही खेतीबाड़ी करते हैं। भारत में कृषि जीवन का एक तरीका है और यह तरीका पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपनाया जाता है।

भूमि पर आश्रित रहने वाले लोगों की संख्या में वृद्धि लगातार हो रही है, जबकि उत्तर प्रदेश के अलावा कृषि भूमि में कहीं उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हुई है। भूमि पर जनसंख्या के भार में वृद्धि होने पर भी कृषि भूमि बनाने के लिए ऊसर (बेकार पड़ी) भूमि का बहुत थोड़ा ही विस्तार हुआ है। 1972-73 में 32.80 करोड़ हैक्टेयर के कुल भौगोलिक क्षेत्र में से शुद्ध रोपण क्षेत्र 44.7 प्रतिशत था। इसी प्रकार 1972-73 में 161,525 हजार हैक्टेयर के कुल फसल वाले क्षेत्र में से शुद्ध रोपण क्षेत्र 136,779 हजार हैक्टेयर था। भारत में प्रति एकड़ उपज भी बहुत कम है। इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में (1901 और 1941 के बीच) जन-संख्या में 38 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि कृषि भूमि में केवल 18 प्रतिशत की ही वृद्धि हो पाई। खाद्यान्न और दालों के उत्पादन में कोई वृद्धि नहीं हुई तथा गैर खाद्यान्नों की उपज में 53 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

भारत में कृषि उत्पादकता बहुत ही कम है। उदाहरणतया, 1973-74 में चावल की प्रति हैक्टेयर उपज 1151 किलोग्राम थी और गेहूँ की 1158 किलोग्राम, जबकि उसी वर्ष में चावल की किलोग्राम में प्रति हैक्टेयर उपज थाइलैंड में 1703, इण्डोनेशिया में 2682, यू० एस० ए० में 4978 और ईजिप्ट में 4898 किलोग्राम थी। जहाँ तक गेहूँ के उत्पादन का प्रश्न है, यह कनाडा में 1497 किलोग्राम, यू०एस०ए० में 1842 किलोग्राम, ईजिप्ट में 3447 किलोग्राम, यू०के० में 4892 किलोग्राम और फ्रांस में 4592 किलोग्राम थी।

उत्पादकता में कमी के कारण

भारतीय कृषि की एक बहुत ही दयनीय बात है, प्रति एकड़ उत्पादकता का बहुत कम होना। विश्व के बहुत-से विकसित देशों की तुलना में भारत में लगभग सभी फसलों की औसत प्रति एकड़ उपज बहुत कम है। भारतीय कृषि के मुख्य दोष हैं : खेतों के आकार का छोटा

होना, खेतीबाड़ी के पुराने तरीके, पानी और खाद की कमी, दोषपूर्ण भू-पद्धति और वित्त की कमी।

(1) **खेतों का छोटा आकार**—भारत में खेतों का औसत आकार बहुत छोटा है और पीढ़ी-दर-पीढ़ी छोटा होता जा रहा है। ऐसा खेती के पिछड़ेपन तथा त्वरित बढ़ती हुई जन-संख्या के कारण है जिससे कि भू-जोतों के उपविभाजन तथा भू-खंडन को बढ़ावा मिलता है। अत: कृषक भूमि के छोटे-से टुकड़े को ही जोतता है।

(2) **खेती-बाड़ी के पुराने तरीके**—किसान अब भी बाबा आदम के जमाने के हलों से खेती करते हैं। इन हलों से भूमि की सतह खुरच जाती है। उत्पादकता में बहुत अधिक वृद्धि लाने वाले कृषि यंत्रों तथा उन्नत उपकरणों का प्रयोग बहुत कम किया जा रहा है। अधिकांश किसान अनपढ़ हैं और कृषि के वैज्ञानिक उपायों से अनभिज्ञ हैं। अत्यधिक गरीब होने के कारण वे कृषि के उन आधुनिक साधनों को खरीदने में असमर्थ हैं, जो उत्पादकता बढ़ाने में बहुत अधिक सहायक हैं।

(3) **पानी और खाद की कमी**—भारत की मिट्टी शुष्क है। पर्याप्त सिंचाई न होने पर इस मिट्टी से अच्छी फसल नहीं ली जा सकती। परन्तु पानी की पूर्ति भी अपर्याप्त है। कुल जोत की केवल 24.2 प्रतिशत भूमि पर ही सिंचित भूमि है और शेष भूमि को सिंचाई के लिए वर्षा पर ही निर्भर रहना पड़ता है। परन्तु वर्षा अनिश्चित और अनियमित है और भारत के सभी भागों में सदैव और उचित मात्रा में वर्षा नहीं होती। बिना खाद के लगातार फसल लेने से भी भूमि की उत्पादकता कम हो गई है। भारत के अधिकांश किसान अत्यधिक गरीब हैं। फलत: वे उचित मात्रा में उर्वरक नहीं खरीद पाते। परिणामस्वरूप उचित खाद न मिलने के कारण भूमि की उत्पादकता गिरती जा रही है। पानी, उर्वरक और खाद की कमी से फसल का उत्पादन कम होता है।

(4) **दोषपूर्ण भू-पद्धति**—अभी हाल तक जो भू-पद्धत्ति की प्रथा प्रचलित थी उससे किसानों के पास भूमि से अधिक फसल लेने के लिए सुधार हेतु पर्याप्त साधन नहीं बच पाते थे। खेती-बाड़ी करने वालों में अधिकांश किराएदार थे और उन्हें भू-मालिकों को ऊँची दर पर लगान देना होता था। अत: भूमि से उन्हें कोई लगाव नहीं रह जाता और वे खेती में सुधार लाने के लिए कोई परिश्रम नहीं करते थे।

(5) **वित्त की कमी**—कृषि व्यवस्था में दोषों का पाया जाना वित्त की कमी के कारण भी है। बहुत-से किसान महाजनों के कर्जदार हैं और वे कर्ज में बुरी तरह डूबे हुए हैं। उन्हें अपनी फसल इन महाजनों के हाथ बहुत कम कीमत पर बेचनी होती है। उन्हें बची फसल बाजार में तुरन्त ही बेचनी पड़ जाती है जबकि बाजार में कीमतें बहुत ही नीची रहती हैं क्योंकि महाजनों द्वारा उन्हें कर्ज चुकाने के लिए बाध्य किया जाता है। मध्यस्थों और व्यापारियों

की एक लम्बी कड़ी किसानों और अंतिम खरीदारों के बीच बनी हुई है। ये मध्यस्थ लोग फसल की कीमत का बड़ा भाग हड़प लेते हैं । अंतिम खरीदार द्वारा चुकाए गए प्रति रुपये से 50 से 60 पैसे तक ही किसानों को मिल पाते हैं और शेष इन लोगों की जेबों में पहुँचते हैं ।

कृषि उत्पादन की वृद्धि के लिए अपनाए जाने वाले उपाय

देश की जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हो रही है । जब तक खाद्यान्न की प्रति हैक्टेयर उपज को बढ़ाने के लिए उपाय नहीं किए जाते, इस बड़ी जनसंख्या का पेट भरने के लिए बड़ी समस्या खड़ी हो जाएगी । कृषि उत्पादन में वृद्धि लाने के लिए इन उपायों को अपनाना चाहिए ।

जोत का आकार बढ़ाने के लिए कदम उठाने बहुत जरूरी हैं । यह कार्य कानून द्वारा जोतों की चकबन्दी द्वारा किया जा सकता है अथवा सामूहिक खेती की प्रथा द्वारा या सहकारी खेती की प्रथा द्वारा किया जा सकता है । जमींदारी प्रथा का उन्मूलन किया जाना बहुत उप-युक्त कदम है और अब किसान और सरकार के बीच सीधा संबंध स्थापित होना चाहिए । तभी किसानों को भूमि सुधारने और उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रेरणा मिल सकेगी । वनारोपण आदि द्वारा भूमि के कटाव को रोकने के लिए भी कदम उठाए जाने चाहिएँ । सिंचाई की सुविधाओं को बढ़ाना बहुत आवश्यक है । नहर, ट्यूबवैल आदि के माध्यम से सिंचाई की सुविधा जुटानी चाहिए । रासायनिक खाद की मात्रा में वृद्धि करनी चाहिए । कृषि विभाग को अनु-संधान करना आवश्यक है । अच्छी किस्म के बीज और कीड़ों तथा बीमारी के बचाव के लिए भी उपयुक्त कदम उठाए जाने आवश्यक हैं । इन वस्तुओं को उचित कीमतों पर किसानों को दिलाने का भी बन्दोबस्त करना बहुत आवश्यक है ।

किसान की वित्त की आवश्यकता को हल करने के लिए वित्तीय पूर्ति में भी सुधार करना होगा । इसके लिए सबसे अच्छा तरीका होगा सहकारी साख तथा गैर-साख संस्थाओं की स्थापना करना । बिक्री की पद्धति में भी सुधार लाना बहुत जरूरी है । अनावश्यक मध्यस्थों को हटाना, विपणि में कपट और मिलावट को रोकना आदि भी बहुत जरूरी हैं । सबसे आवश्यक और महत्त्वपूर्ण सुधार गाँवों में शिक्षा का प्रसार करना है । शिक्षा का उद्देश्य केवल सैद्धान्तिक शिक्षा देना ही नहीं होना चाहिए वरन् कृषि के बारे में व्यावहारिक शिक्षा भी दी जानी चाहिए ।

अध्याय 6.

साख और विपणि

ग्राम्य साख

कृषि एक बड़ा व्यवसाय बन चुका है। तकनीकी विकास के होने और कृषि उत्पादन में कीमती आदानों का प्रयोग किए जाने के कारण काफी पूँजी लगाने की आवश्यकता रहती है। परंतु एक गरीब किसान के पास अपर्याप्त पूँजी होती है, जिससे वह अपने खर्चे भी पूरे नहीं कर सकता। अतः कृषि उत्पादन के लिए किसान साख चाहता है। खेती में पूँजी का प्रयोग अब महत्त्वपूर्ण बन चुका है। इससे किसान की आय में भी वृद्धि होती है और उसके रहन-सहन का स्तर भी ऊँचा उठता है।

साख का क्या अर्थ है? 'साख' (credit) शब्द की उत्पत्ति लेटिन शब्द 'क्रेडो' (credo) से हुई मानी जाती है जिसका अर्थ है "मैं विश्वास करता हूँ।" अस्तु, साख विश्वास पर निर्भर है। इस अर्थ में साख शब्द का प्रयोग दूसरे व्यक्ति की पूँजी का प्रयोग करना है। बदले में एक वचन दिया जाना होता है कि यह पूँजी भविष्य में एक निश्चित समय पर लौटाई जानी है।

ग्राम्य साख की आवश्यकता—किसान को बीज, चारा, खाद, कृषि उपकरण, पशु और नालियों और सिंचाई की सुविधा प्राप्त कर भूमि में सुधार करने के लिए रुपया चाहिए। उसे भूमि खरीदने, भवन निर्माण करने, ट्यूबवैल लगवाने, पशुओं के लिए स्थान बनवाने और इनकी मरम्मत आदि के लिए भी भारी रकम की आवश्यकता रहती है। सामाजिक और धार्मिक रीतियों तथा वैयक्तिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भी उसे धन की आवश्यकता पड़ती है। कृषि उत्पादन के लिए और यंत्र, पशु, चारा खरीदने तथा भवन निर्माण के लिए आवश्यक धन की माँग को उत्पादक कहा जा सकता है। सामाजिक और धार्मिक कार्यों में खर्च किया जाने वाला धन अनुत्पादक कहा जा सकता है।

ग्राम्य साख का वर्गीकरण—समय के आधार पर ग्राम्य साख को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है।

(1) **अल्प अवधीय अथवा मौसमी साख**—फसल उपजाने के लिए जब एक मौसम के लिए ही साख की आवश्यकता हो तो यह अल्प अवधीय अथवा मौसमी साख कहलाती है। ऐसी साख की आवश्यकता बीज, चारा, उर्वरक, मजदूरी चुकाने और दिन-प्रतिदिन के खर्चे पूरा करने के लिए चाहिए होती है। ऐसी साख की अवधि 6 मास से 12 मास तक होती है, परन्तु 15 मास से अधिक नहीं होती।

(2) **मध्यम अवधीय साख**—पशु और कृषि यंत्र खरीदने तथा भूमि में कुछ छोटे-मोटे सुधार करने के लिए, जैसे सिंचाई और नाली की सुविधा जुटाने के लिए, आवश्यक पूँजी को मध्यम अवधीय साख कहा जाता है। ऐसी साख 15 मास से 5 वर्ष तक के लिए होती है।

(3) **दीर्घ अवधीय साख**—भूमि क्रय करने, भवन और पशु स्थलों तथा ट्यूबवैल का निर्माण करने, कृषि यंत्र जैसे—ट्रैक्टर, अनाज साफ करने का यंत्र आदि क्रय करने और भूमि सुधार के लिए पूँजी की आवश्यकता को दीर्घ अवधीय साख कहा जाता है। यह साख 15 से 20 वर्षों की अवधि के लिए जरूरी होती है।

यह अनुभव किया गया है कि सभी किस्म की साख किसान के लिए जरूरी होती है, क्योंकि विभिन्न समय और विभिन्न कार्यों के लिए उसे पूँजी चाहिए।

साख के साधन—किसान को जिन स्रोतों से साख प्राप्त हो सकती है वे हैं—

(1) निजी एजेंसी जैसे—साहूकार, व्यापारी, कमीशन एजेंट और संबंधी।

(2) संस्थात्मक एजेंसियों, जैसे—व्यापारिक बैंक, सहकारी बैंक, प्राथमिक बैंक और प्राथमिक साख समितियाँ।

(3) राजकीय संस्थाएँ।

ग्रामीण साहूकार– सभी निजी एजेंसियों में से, जो किसान को साख प्रदान करती हैं, साहूकार सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। वह ऋण भी देता है और फसल भी खरीदता है। गाँव का साहूकार रात के समय भी किसान को ऋण देने के लिए तैयार रहता है। वह किसान की आवश्यकता को तुरंत पूरा करता है। यदि किसान ब्याज चुकाता रहे तो वह मूल नहीं माँगता। यह साहूकार अपने मुवक्किलों से निकट का संपर्क रखता है और उनकी फसल की पूरी जानकारी रखता है। वह ऋण वसूल कर लेता है। इसमें उसे अधिक जोखिम नहीं उठानी होती।

ये साहूकार प्रायः बहुत-सी आपत्तिजनक प्रथाएँ अपनाते हैं, जैसे—(1) प्रायः ऊँची ब्याज की दर लेते हैं, (2) ऋण देते समय मूल में से ही पूरे वर्ष की ब्याज की रकम काट लेते

हैं, (3) ऋण देने से पूर्व ही कोरे कागज पर ऋणी की निशानी अँगूठा अथवा हस्ताक्षर ले लेते हैं, (4) अपने रजिस्टर अथवा प्रोनोट में अंकों में हेराफेरी इस ढंग से करते हैं कि वास्तविक ऋण की रकम से अधिक रकम बन जाती है।

सहकारी साख संस्थाएँ—प्रथम 1904 का सहकारी साख समिति अधिनियम लागू किया गया जिससे छोटी और सीधी-सादी समितियां भारतीय किसानों को पूर्ण ऋण की सुविधा दे सकें। बाद में 1972 में एक वृहद् सहकारी समिति अधिनियम पास किया गया जिसने सहकारी आन्दोलन को बहुत अधिक प्रेरणा दी। इस अधिनियम ने गैर साख सहकारी समितियों तथा अन्य प्रकार की सहकारी साख समितियों, जैसे—केन्द्रीय साख समितियों, राज्य साख समितियों को भी मान्यता दे दी।

ग्राम्य साख समितियों की स्थापना साहूकारों को हटाकर किसानों को सुविधा प्रदान करने के लिए की गई थी। अल्प और मध्यम अवधीय साख जुटाने का काम प्राथमिक साख समितियों, केन्द्रीय बैंक और शीर्ष बैंकों को सौंपा गया। दीर्घ अवधीय साख केन्द्रीय भूमि विकास बैंकों और प्राथमिक भूमि विकास बैंकों द्वारा जुटाई जाती है।

सहकारी साख का ढाँचा पिरामिड के आकार का है। इसका आधार प्राथमिक कृषि साख समिति है जो गाँव स्तर पर कार्य करती है। इसके ऊपर केन्द्रीय समितियाँ हैं, जो जिला स्तर पर कार्य करती हैं। ये समितियाँ प्राथमिक समितियों के फैडरेशन के रूप में कार्य करती हैं। सबसे ऊपर शीर्ष के बैंक हैं, जो राज्य स्तर पर कार्य करते हैं और केन्द्रीय समितियों की नियम कहलाते हैं।

यदि किसी गाँव वाले को साख की जरूरत होती है तो वह इस समिति में आवेदन-पत्र देता है। यदि इस समिति के पास राशि नहीं रहती तो वह केन्द्रीय बैंक से ऋण लेती है और केन्द्रीय बैंक अपनी जरूरत राज्य स्तर की बैंक से पूरी करती है। इसीलिए यह कहा जाता है कि सहकारी आन्दोलन किसान का संबंध देश के मुद्रा बाजार से जोड़ता है।

प्राथमिक कृषि साख समितियां—कोई भी दस अथवा अधिक व्यक्ति, जो उसी गाँव अथवा इलाके के हों, समिति का गठन कर सकते हैं। परन्तु सदस्यों की अधिकतम संख्या 100 है। प्रायः एक गाँव में एक समिति होती है। गांव में रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति समिति का सदस्य बन सकता है। समिति का प्रबंध जनरल कमेटी द्वारा किया जाता है जिसमें सभापति और मंत्री के साथ 5 से 9 सदस्य तक होते हैं। प्रबंध-समिति के सदस्यों का चुनाव एक वर्ष के लिए साधारण सभा में समिति के सदस्य करते हैं। साख समितियों के मुख्य कार्य हैं—कृषि तथा अन्य उत्पादन की अल्प तथा मध्यम अवधीय साख की आवश्यकता को पूरा करना और कृषि उत्पादन की बिक्री का प्रबंध करना। ये समितियाँ अल्प अवधि के लिए साख देती हैं, जो एक वर्ष से अधिक के लिए नहीं होती। यह साख कृषि कार्यों जैसे—बीज, उर्वरक, यंत्र आदि की खरीद

के लिए दी जाती है और फसल कटने पर वसूल कर ली जाती है। मध्यम अवधि के लिए दिए जाने वाले ऋण 15 मास से लेकर 5 वर्ष तक के लिए होते हैं और पशु खरीदने, भवन और कुएँ बनवाने, ट्रैक्टर खरीदने तथा भूमि में सुधार करने के लिए दिए जाते हैं। एक व्यक्ति को दिए जाने वाले ऋण पर लिए जाने वाले ब्याज की दर बहुत ही साधारण होती है और 6 से 10 प्रतिशत वार्षिक के बीच रहती है। प्राथमिक साख समिति के साधन अंश पूँजी, सदस्यता शुल्क और सदस्यों से प्राप्त जमा राशि से जुटाए जाते हैं। बाह्य साधनों में सहकारी केन्द्रीय बैंकों से प्राप्त ऋण तथा गैर सदस्यों से प्राप्त जमा राशि प्रमुख हैं। ये समितियाँ अपने शुद्ध लाभ का लगभग एक चौथाई रिजर्व कोष में हस्तांतरित करती हैं और शेष लाभ को लाभांश के रूप में सदस्यों के बीच बाँट देती हैं। वर्तमान में सहकारी साख आन्दोलन ने सर्वांगीण प्रगति दिखाई है। इन समितियों की सदस्यता में भी वृद्धि हुई है तथा देश भर में प्रदान की गई साख मात्रा में भी विस्तार हुआ है। परन्तु यह प्रगति विभिन्न भागों में असमान दिखाई देती है।

केन्द्रीय सहकारी बैंक

केन्द्रीय सहकारी बैंक प्राथमिक साख समितियों के फैडरेशन हैं। इन समितियों के सदस्य न केवल ग्राम्य सहकारी साख समितियाँ होती हैं वरन् बिक्री समितियाँ आदि भी होती हैं। कोई भी व्यक्ति इन समितियों का सदस्य हो सकता है। इनका कार्यक्षेत्र तालुक से लेकर तहसील और जिला क्षेत्र तक होता है। केन्द्रीय बैंक का प्रबंध साधारण सभा द्वारा निर्वाचित प्रबंध मण्डल द्वारा किया जाता है। संचालकों की संख्या 10 से 25 तक होती है। इसका कार्य सदस्य समितियों की साख की आवश्यकता को पूरा करना होता है। समितियों के अतिरेक धन को दूसरी समितियों में हस्तांतरित करना भी इन्हीं बैंकों का काम है। सदस्यों से जमाराशि स्वीकार करना और ग्राम्य प्राथमिक समितियों को आवश्यकता पड़ने पर ऋण देना भी इनका कार्य है। कुछ प्रदेशों में, ये अपनी समिति के सदस्यों का निरीक्षण और निगरानी का कार्य भी करती हैं। ये बैंक गैर साख कार्य भी करती हैं, जैसे—बीज, खाद, खाद्यान्न और उपभोग की वस्तुओं का वितरण करना। केन्द्रीय सहकारी बैंक अंश पूंजी द्वारा जनता से जमा राशि स्वीकार कर और राज्य सहकारी बैंकों तथा सरकार से ऋण लेकर वित्तीय साधन जुटाती है। प्रबंध व्यय घटाने के बाद इनका बचा मुनाफा दो भागों में बाँटा जाता है। एक भाग से विभिन्न संचित कोष बनाए जाते हैं और दूसरे भाग को अंशधारियों में बाँटा जाता है। सब मिलाकर केन्द्रीय सहकारी बैंकों का कार्य सराहनीय रहा है और ये अपने स्थापना के उद्देश्य को प्राप्त करने में समर्थ हुए हैं।

राज्य सहकारी बैंक अथवा शीर्ष बैंक

यह कहा जाता है कि प्राथमिक समितियाँ सहकारिता पिरामिड के आधार हैं, केन्द्रीय बैंक उसका ढाँचा और राज्य सहकारी बैंक उसके शीर्ष हैं। शीर्ष बैंक राज्य में स्थापित केन्द्रीय बैंकों का फैडरेशन उसी प्रकार से होता है जैसे केन्द्रीय बैंक प्राथमिक समितियों का होता है। प्रदेश के सहकारी आन्दोलन में शीर्ष बैंक सबसे प्रमुख संस्था मानी जाती है जो प्रत्येक स्तर पर नियंत्रण और निगरानी रखने का कार्य करती है। राज्य सहकारी समितियों की सदस्यता प्राथमिक समितियों और केन्द्रीय बैंकों तक ही सीमित रहती है, जबकि अन्य समितियों की सदस्यता व्यक्ति और समितियों, दोनों के द्वारा ली जा सकती है। राज्य बैंकों का संविधान एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में भिन्न है, परन्तु अधिकतर प्रदेशों में मिला-जुला संविधान अपनाया गया है। प्रबंध, प्रबंध मण्डल के द्वारा किया जाता है जिसके सदस्य प्राथमिक समितियों, केन्द्रीय बैंकों और व्यक्तिगत सदस्यों द्वारा निर्वाचित किए जाते हैं। राज्य सहकारी बैंक प्रदेश के केन्द्रीय बैंकों की कार्य प्रणाली को नियंत्रित कर उस पर निगरानी रखते हैं। दूसरे, देश के मुद्रा बाजार से वे सहकारी आन्दोलन का तालमेल बैठाते हैं। अंत में, ये प्रदेश में संपूर्ण सहकारी आन्दोलन के लिए वित्तीय साधन जुटाते हैं। ये बैंक प्राथमिक समितियों, केन्द्रीय बैंकों तथा कृषि कार्य करने वाले व्यक्तियों को ही ऋण नहीं देते वरन् कृषि उत्पाद की बिक्री और वितरण कार्य के लिए भी ऋण देते है। ग्राम्य साख सर्वेक्षण समिति ने सुझाव दिया था कि कृषि साख की माँग को प्राथमिकता के आधार पर पूरा किया जाना चाहिए। राज्य सहकारी समितियों की कार्यशील पूँजी में अंशपूँजी, संचित कोष और केन्द्रीय सहकारी बैंकों, सदस्य और गैर सदस्यों से प्राप्त जमाराशि तथा ऋण शामिल हैं। रिजर्व बैंक और भारतीय पुनर्वित्त निगम अल्प तथा मध्यम अवधीय ऋण नीची दर पर इनको देते हैं।

भूमि विकास बैंक

कृषि कार्यों के लिए दीर्घ अवधीय ऋण, भूमि विकास बैंकों द्वारा दिए जाते हैं क्योंकि ऊपर वर्णित सभी संस्थाएँ किसान को दीर्घ अवधि के लिए ऋण नहीं देतीं। किसान के पास अपना धन काफी नहीं होता। प्राथमिक भूमि विकास बैंक भी हैं, जो तहसील और जिला स्तर पर कार्य करते हैं। ये बैंक, केन्द्रीय भूमि विकास बैंक से सम्बद्ध होते है। केन्द्रीय भूमि विकास बैंक प्रदेश स्तर पर कार्य करते हैं। इन भूमि विकास बैंकों के वित्तीय साधन मुख्यत: ऋण पत्र निर्गमन पर निर्भर रहते हैं। ये ऋण पत्र राज्य सरकार की गारंटी पर निर्मित किए जाते हैं। ये भूमि विकास बैंक अचल सम्पत्ति जैसे—भूमि, भवन की धरोहर (बंधक) पर ऋण देते हैं और इस सम्पत्ति के मूल्य के आधे भाग की सीमा तक ही ऋण देते हैं। भूमि सुधार, भूमि की खरीद, महंगे यंत्र और उपकरण खरीदने तथा पुराने ऋणों का भुगतान करने के लिए ये बैंक

ऋण देते हैं। इन ऋणों की रकम अधिक होती है तथा ये लम्बी अवधि के लिए दिए जाते हैं। अतः भू-सम्पत्ति की धरोहर जरूरी होती है।

सारणी 5.1

1950-51 से सहकारिता आन्दोलन में संवृद्धि

	1950-51	1975-76
राज्य सहकारी बैंक		
संख्या	15	26
जमा पूँजी (करोड़ रुपये)	22	724
वर्ष में दिए गए ऋण (करोड़ रुपये)	42	1,515
केन्द्रीय सहकारी बैंक		
संख्या	505	344
वर्ष में दिए गए ऋण (करोड़ रुपये में)	82	1,722
प्राथमिक साख समितियाँ		
संख्या (हजार में)	105	135
सदस्यता (लाख में)	44	395
वर्ष में दिए गए ऋण (करोड़ रुपये में)	23	1,023

स्रोत—रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया वार्षिक-रिपोर्ट, 1976-77

गैर साख सहकारी समितियाँ

सभी स्तरों पर प्राथमिक, केन्द्रीय और राज्य-कृषि और गैर कृषि, गैर-साख सहकारी समितियाँ भी कार्य कर रही हैं। ग्रामीण क्षेत्रों के आर्थिक विकास के लिए कृषि उत्पादन में वृद्धि करना जरूरी है और इसके लिए अन्य सुविधाएँ जुटानी होंगी। गैर साख सहकारी समितियाँ ग्रामीण क्षेत्रों में सहकारिता के सिद्धान्त पर कार्य कर रही हैं। गैर-साख कृषि समितियों में प्रमुख हैं—गन्ना आपूर्ति समितियाँ, डेरी और दुग्ध समितियाँ, उर्वरक

समितियाँ आदि। सहकारिता के सिद्धान्तों पर कृषि उत्पादन की गति में तेजी लाने के लिए कृषि संसाधनों और सेवाओं को उपलब्ध कराना इन कृषि समितियों का मुख्य उद्देश्य है। औद्योगिक सहकारी समितियाँ भी गैर कृषि समितियों में प्रमुख मानी जा रही हैं। इनमें हथकरघा बुनकर समितियाँ, हस्तकारी समितियाँ, चर्म कारीगर समितियाँ, रंगने और छापने का कार्य करने वालों की समितियाँ प्रमुख हैं। कुछ बहु उद्देश्यीय समितियाँ भी स्थापित हुई हैं और ये साख प्रदान करने के साथ-साथ उत्पादन बढ़ाने के लिए ग्रामीणों को अन्य सुविधाएँ भी प्रदान करती हैं।

सहकारी साख संस्थाओं के विकास को प्रभावित करने वाले कारक

कृषि के विकास में सहकारिता द्वारा महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले कुछ प्रमुख घटक इस प्रकार हैं—

(1) विकास सेवाएँ प्रदान करने के लिए उपयुक्त एवं विस्तृत शोध संस्थानों से युक्त संस्थाएँ होनी चाहिएँ जो सहकारी समितियों की सहायता से कृषि साधनों तथा सेवाओं से संबंधित कृषकों की माँगों को पूरा कर सकें।

(2) अधिक कार्यक्षमता के लिए साख संस्थानों को प्रशिक्षित एवं कुशल कर्मचारियों की आवश्यकता है।

(3) सहकारी समितियों द्वारा कृषकों को पर्याप्त और समय पर साख सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिएँ।

(4) साख, विक्रय एवं पूर्ति के कार्यों को पूरा करने के लिए बहु उद्देश्यीय समितियों की स्थापना करने से कृषकों की सेवा अच्छे ढंग से की जा सकती है।

कृषि उत्पाद की बिक्री

किसान के द्वारा कृषि पदार्थों का उत्पादन कर लेने से ही कहानी समाप्त नहीं हो जाती। जो कुछ भी उत्पादन होता है वह अंतिम उपभोक्ता तक पहुँचना चाहिए। कृषि पदार्थों को बाजार के माध्यम से उत्पादक से उपभोक्ता तक पहुँचाया जाता है। अतः कृषि बिक्री मोटे रूप में उन सभी क्रियाओं को अपने में शामिल करती है जो कृषि पदार्थों और कच्चे माल को खेत से अंतिम उपभोक्ता तक पहुँचाने में संबद्ध हैं। कृषि बिक्री में कई सीढ़ियाँ हैं—माल को एकत्रित करना, साफ करना, वर्गीकृत करना, मानकीकरण करना, संग्रहण, यातायात और बिक्री आदि का कार्य प्रमुख सीढ़ियाँ हैं। पदार्थों की बिक्री ही समस्या उत्पन्न करती है, क्योंकि सभी पदार्थों की बिक्री एक ही ढंग से नहीं की जा सकती। इन पदार्थों की अपनी-

अपनी विशेषताएं हैं। कुछ पदार्थ भारी होते हैं, कुछ नाशवान, जबकि कुछ हल्के, टिकाऊ और सस्ते।

कृषि मण्डियों का वर्गीकरण

बाजार अथवा मण्डी एक स्थान है जहाँ वस्तुओं का क्रय-विक्रय किया जाता है। यह वह समस्त भाग है जहाँ क्रेता और विक्रेता आपस में स्वतंत्र रूप से मिलकर वस्तु की कीमत को तय करते हैं और उस समस्त बाजार में वस्तु की तय की गई कीमत एक ही रहती है। ये बाजार दो वर्गों में वर्गीकृत किए जा सकते हैं—

1. थोक बाजार 2. फुटकर बाजार। थोक बाजार के तीन उपवर्ग किए गए हैं:

(अ) **प्राथमिक थोक बाजार**—वस्तु का अधिक भाग गाँवों अथवा गाँव की हाटों मे लाया जाता है। ये बाजार अथवा पैठ साप्ताहिक अथवा सप्ताह में दो बार अथवा लम्बी अवधि के बाद लगते हैं।

(आ) **द्वितीय थोक बाजार**—इनको मण्डी, गंज कहा जाता है, जहाँ 16-32 किलोमीटर के क्षेत्र से माल आता है।

(इ) **टर्मिनल बाजार**—यहाँ माल को या तो उपभोक्ता को सीधे ही बेच दिया जाता है अथवा उसको एकत्रित और वर्गीकृत कर निर्यात कर दिया जाता है।

बिक्री की विधियां

कृषि उत्पाद की बिक्री इन विधियों में से किसी एक के द्वारा की जाती है:

(1) **कपड़े के नीचे अथवा हट्टा की विधि**—इस विधि में क्रेता अथवा उसका एजेंट जो कीमत देना चाहता है उसे बतलाता है। ऐसा करते समय वह विक्रेता के एजेंट की अंगुलियों को मरोड़ता है अथवा पकड़ता है। यह एजेंट प्रायः आढ़तिया होता है और विक्रेता के लिए कपड़े के नीचे हाथ रखकर सौदा करता है।

(2) **खुली नीलामी की विधि** – इस विधि में दलाल बोली लगाते हैं और सबसे ऊँची बोली पर माल बेच दिया जाता है।

(3) **व्यक्तिगत प्रस्ताव की विधि**—इस विधि में क्रेता अपनी सुविधानुसार आता है और अपनी बोली लगाता है।

(4) **दड़ा बिक्री**—इस विधि में विभिन्न किस्म के माल की ढेरी लगा दी जाती है और ढेरी को एक दाम पर बेचा जाता है। इस विधि से थोड़े-से समय में ही भारी तादाद में माल बेच दिया जाता है।

(5) **नमूना देकर बोली लगाना**—इस विधि में माल की ढेरी नहीं लगाई जाती वरन् बोरों में रखा जाता है और आढ़तिया अथवा इलाके का व्यापारी विक्रेताओं से नमूने एकत्रित करता है। इन नमूनों को देखकर माल की कीमत क्रेताओं द्वारा बोली जाती है। कीमत तय हो जाने पर माल खरीद लिया जाता है।

बिक्री करने वाली एजेंसियां

कृषि पदार्थ का अधिकांश भाग गाँव में ही गाँव के व्यापारी अथवा बनिये के हाथ किसान बेच देता है। जो बच रहता है वह मण्डी में बेचने के लिए लाया जाता है। मण्डी में मध्यस्थों की एक लम्बी कड़ी होती है जो उत्पादक और अंतिम उपभोक्ता को जोड़ती है। ये मध्यस्थ हैं—कच्चा आढ़तिया, पक्का आढ़तिया, दलाल, कमीशन एजेंट, फुटकर और थोक व्यापारी। बिक्री के विविध मध्यस्थ इस प्रकार हैं :
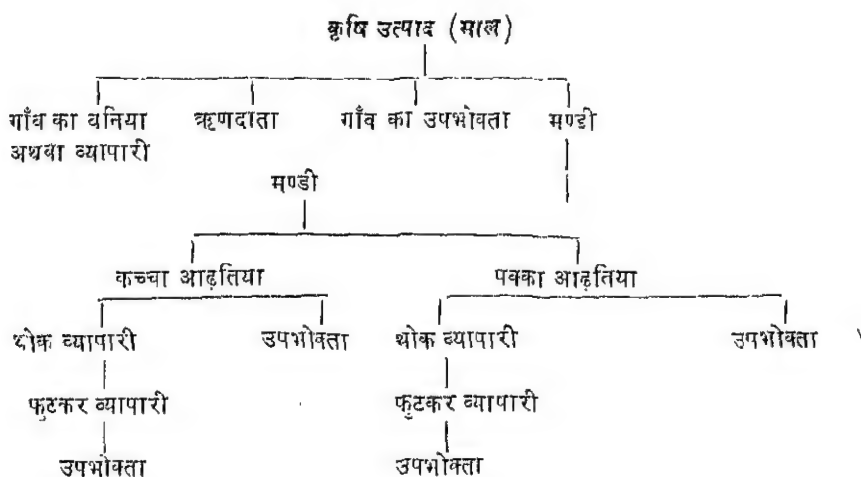
उत्पादक और उपभोक्ता के बीच मध्यस्थों की यह लम्बी कड़ी कार्य करती है। ये लोग माल के वितरण में विभिन्न सीढ़ियों का कार्य करते हैं और बहुत-सा मुनाफा खा जाते हैं, जिससे किसान को मिलने वाला मुनाफा बहुत कम रह जाता है। इसके अलावा, बिक्री करते समय बहुत-से प्रभार भी किसान को चुकाने पड़ते हैं, जिससे मिलने वाली रकम बहुत कम रह जाती है। वे प्रभार हैं—दलाली, तुलाई, पल्लेदारी आदि। इनके अतिरिक्त अनाज के

रूप में चुकाए जाने वाले भी कुछ प्रभार हैं, जैसे काँडा, ढलता आदि। सहकारी बिक्री समितियों के द्वारा इन अनावश्यक मध्यस्थों को कृषि बाजार से दूर हटाया जा सकता है।

सहकारी बिक्री का ढाँचा

सहकारी साख की भाँति, सहकारी बिक्री का भी पिरामिड के समान ढाँचा है। आधार पर, प्राथमिक कृषि क्रय एवं विक्रय तथा उत्पादन और बिक्री समितियाँ तथा प्राथमिक गैर कृषि क्रय, विक्रय, उत्पादन और बिक्री समितियाँ हैं। ये समितियाँ अपने सदस्यों के लाभ के लिए कृषि पदार्थों तथा अन्य वस्तुओं का क्रय-विक्रय करती हैं। ये समितियाँ या तो एक ही वस्तु में व्यवहार करती हैं या एक साथ बहुत-सी वस्तुओं में।

प्राथमिक समितियों के बाद केन्द्रीय विपणि यूनियन अथवा फैडरेशन हैं जो प्रायः जिला के एक भाग अथवा सम्पूर्ण जिला स्तर पर कार्य करते हैं। इनकी सदस्यता व्यक्ति विशेष, और सहकारी समितियों तक होती है। ये यूनियन क्रय-विक्रय का कार्य करने के अलावा प्राथमिक समितियों को साख सुविधाएँ भी प्रदान करते हैं।

शीर्ष पर, राज्य विपणि समितियाँ अथवा फैडरेशन हैं जो सभी सहकारी विपणि समितियों के लिए शीर्ष संस्थाओं का कार्य करती हैं। ये केन्द्रीय यूनियनों से क्रय-विक्रय का कार्य करती हैं और उन्हें साख सुविधाएँ प्रदान करती हैं। ये शीर्ष संस्थाएँ सहकारी बिक्री के कार्य को जोड़ती हैं। इनके सदस्य व्यक्ति विशेष और समितियाँ होते हैं। कुछ प्रदेशों में इस प्रकार की समितियाँ स्थापित की जा चुकी हैं और इनका कार्यक्षेत्र सीमित है।

प्रादेशिक ग्रामीण बैंक

सामान्य रूप में यह विश्वास किया जाता है कि ग्रामीण क्षेत्रों के विकास की समस्या को अलग से नहीं लिया जाना चाहिए। अतः ग्रामीण क्षेत्रों के विकास के लिए यह आवश्यक है कि समस्याओं का उचित प्रकार से अध्ययन किया जाए, मापा जाए और उसी के अनुरूप प्रयत्न किए जाएँ।

सामुदायिक विकास परियोजना, सीमान्त किसान एवं कृषि श्रम संगठन, छोटे किसानों के विकास की एजेंसी आदि के संबंध में पिछला अनुभव स्पष्ट रूप से बतलाता है कि यदि ग्रामीण विकास प्रक्रिया समस्या के कुछ ही पहलुओं को छूती है और व्यक्ति प्रधान रहती है तो उससे अधिक सफलता प्राप्त नहीं होती। अर्थव्यवस्था के विभिन्न घटक एक दूसरे पर निर्भर करते हैं, इसलिए समन्वित प्रयासों से विभिन्न क्रियाओं में सामंजस्य बनाया जाना चाहिए, जिससे कि विकासशील योजना के लिए उचित प्रयत्न किए जा सकें। इन प्रयत्नों को सफल

बनाने के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न ग्रामीण समस्याओं के घटकों का पूर्वानुमान लगाया जाए और ग्रामीण अर्थव्यवस्था के हितों के आधार पर विवेकपूर्ण एवं प्रभावशाली नियंत्रण को ध्यान में रखकर योजना और कार्यक्रम बनाए जाएँ।

जुलाई 1969 में चौदह बड़े व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया। अनेक अध्ययनों से यह पता चलता था कि इन बैंकों द्वारा बड़े उद्योगपतियों, व्यापारियों और दुकानदारों को ही पक्षपातपूर्ण ढंग से सुविधाएँ दी जाती थीं और छोटे किसान, छोटे उद्योगपति और भारतीय जनसंख्या के मूल अंग कमजोर वर्गों को सुविधाओं से वंचित रखा जाता था। अतः इस बात पर विचार किया गया कि जब तक इस पिछड़े एवं कमजोर वर्ग को वित्तीय सुविधाएँ नहीं दी जातीं, तब तक सही अर्थों में ग्रामीण विकास की बात करना मूर्खतापूर्ण होगा।

1969 में अखिल भारतीय साख समीक्षा समिति ने सुझाव दिया था कि छोटे और मध्यम किसानों एवं भूमि-रहित श्रमिकों को ग्रामीण वित्त सुविधाएँ प्रदान करने की शीघ्र आवश्यकता है। समिति ने बहुउद्देश्यीय ग्रामीण साख पूर्ति के लिए सलाह देते हुए कहा कि 'छोटे किसानों के विकास हेतु एजेंसी' बना दी जानी चाहिए। दिसम्बर 1971 में राष्ट्रीय कृषि आयोग ने भी भारतीय कृषि बैंक की स्थापना भारतीय औद्योगिक विकास बैंक के अनुरूप करने की सलाह दी। इस विचार के पीछे प्रमुख उद्देश्य यही था कि रिजर्व बैंक के कृषि साख विभाग, कृषि पुनर्वित्त निगम, कृषि वित्त निगम के अनुभवों का लाभ एकमात्र राष्ट्रीय संगठन के रूप में अच्छा प्राप्त हो सकेगा। लेकिन बैंकिंग आयोग ने कृषि विकास बैंक की स्थापना का समर्थन नहीं किया और न ही बैंकिंग आयोग ने कृषि वित्त निगम और कृषि पुनर्वित्त निगम को मिलाने की सलाह दी।

केन्द्र सरकार ने महसूस किया कि बहु उद्देश्यीय कार्यक्रम, जिसे 1970-71 में प्रारंभ किया गया था, अधिक सफल सिद्ध नहीं हो सका। वास्तव में छोटे और सीमान्त किसानों को ही ऋण सुविधा प्राप्त करने के लिए विभिन्न संस्थाओं से संपर्क करना पड़ता है।

बैंकिंग आयोग ने 1972 में ग्रामीण बैंकों की स्थापना का सुझाव दिया। इसके अन्तर्गत स्वतंत्र एवं स्थानीय नेताओं द्वारा उचित प्रकार से प्रबंधित गाँवों के समूह में ग्रामीण बैंकों को चलाया जाएगा। श्रीनृसिंहन की अध्यक्षता में गठित अध्ययन समूह ने आवश्यकताओं और संभावनाओं का सर्वेक्षण करने के बाद 5 चुने हुए क्षेत्रों में क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की स्थापना का सुझाव दिया। 26 सितम्बर, 1975 को एक अध्यादेश जारी करके प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों की स्थापना का आदेश दिया गया और 2 अक्टूबर, 1975 को ही चार राज्यों में पाँच बैंकों की स्थापना की गई; 2 शाखाएँ (मुरादाबाद एवं गोरखपुर) उत्तर प्रदेश में, एक राजस्थान में, एक भिवानी (हरियाणा) में और एक शाखा (माल्दा) पश्चिमी बंगाल में

स्थापित हुई। अप्रैल 1977 तक 50 ऐसे क्षेत्रीय बैंकों की स्थापना की जानी थी, लेकिन अभी तक 48 बैंक 16 राज्यों में स्थापित हो सके हैं।

इन बैंकों का प्रशासन 9 संचालकों के संचालक मण्डल द्वारा चलाया जाता है, जिसमें से 4 केन्द्र सरकार के, 2 राष्ट्रीय बैंकों के, 1 राज्य सरकार का और 2 अंशधारियों में से केन्द्र सरकार द्वारा नियुक्त किए जाते हैं। इन बैंकों में सहकारिता तथा वाणिज्य बैंकों की विशेषताओं का समन्वय है और छोटे एवं सीमान्त किसान, कृषि श्रमिक और ग्रामीण कलाकार ही इन बैंकों से सुविधाएँ प्राप्त कर सकते हैं। वास्तव में ये ग्रामीण क्षेत्रीय बैंक आधारभूत रूप में व्यापारिक बैंक होते हुए भी कुछ सीमा तक व्यापारिक बैंकों से अलग हैं। ये ग्रामीण बैंक पिछड़े और जनजाति क्षेत्रों में स्थापित किए जाते हैं, जहाँ व्यापारिक बैंकों और सहकारिता का बाहुल्य नहीं होता। ऐसे बैंकों की स्थापना के लिए उन क्षेत्रों को चुना जाता है, जो अविकसित हैं, परन्तु वित्त सुविधाएँ मिलने पर विकास की तेज गति प्राप्त कर सकते हैं। इन बैंकों द्वारा अधिकतर उत्पादन उद्देश्यों के लिए ही ऋण दिया जाता है। लेकिन शिक्षा और चिकित्सा आदि संबंधित उपभोग उद्देश्यों के लिए भी ऋण दिया जा सकता है। एक व्यक्ति की क्षमता के अनुसार ऋण की सीमा भी निश्चित की गई है। एक को छोड़कर सभी ग्रामीण बैंक सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों द्वारा प्रयोजित किए गए हैं। ग्रामीण बैंकों के कार्य को बढ़ाने के लिए रिजर्व बैंक ने पुनर्वित्त सुविधाएँ तथा अन्य नाना प्रकार की सहायता और रियायतें इन बैंकों को दी हैं।

अध्याय 7

पशुपालन, दुग्ध विकास एवं मछली पालन

भारतीय अर्थव्यवस्था में पशुओं का महत्त्व

पशुपालन का विकास विविधीकृत कृषि अर्थव्यवस्था का एक अभिन्न अंग होता है। पशुधन की संख्या का प्रभाव न केवल कृषि के कुल उत्पादन पर अपितु खेत पर भी पड़ता है। भारत में विश्व के कुल पशुधन का 11 प्रतिशत है। पशुपालन से कृषि की आय का 14 प्रतिशत ही प्राप्त होता है। पशुधन से प्राप्त खालें, चमड़ा, चमड़े का सामान तथा दूध उत्पादन विदेशी मुद्रा अर्जित करने के महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं।

पशुधन की विभिन्न नस्लों में चौपाए ही अधिक प्रमुख हैं; केवल इसलिए नहीं कि वे देश की कुल पशुसंख्या का दो-तिहाई हैं, बल्कि इसलिए भी कि ये पशु कृषि कार्यों और किसान की संपन्नता में अधिक सहयोग देते हैं। कृषि के लगभग सभी कार्यों के लिए उपलब्ध शक्ति पशु ही हैं। खेत जोतना, खाद लाना, पानी प्राप्त करना, फसल की दाँय देना, यातायात और गन्ने आदि का मिलों तक ले जाना आदि प्रमुख कृषि कार्य हैं, जो पशु प्रमुख रूप से करते हैं।

मांस (मीट), खाल, ऊन, बाल और मुर्गीपालन को छोड़कर पशुधन के अन्य सभी कामों में चौपायों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। चौपायों का लाभ कुल पशुधन से 88 प्रतिशत तक होता है। 1971-72 में 22.50 लाख लिटर दूध के उत्पादन में गायों ने आधे से कम और भैंसों ने आधे से अधिक दूध प्रदान किया। 53 प्रतिशत दूध भैंसों से, 43 प्रतिशत गायों से, 4 प्रतिशत बकरियों और भेड़ों से प्राप्त हुआ। भारत में विश्व के दुग्ध उत्पादन का 6 प्रतिशत भाग उपलब्ध है। दूध और दूध से बने पदार्थों से लगभग 620 करोड़ रुपये की राष्ट्रीय आय प्राप्त होती है।

पशुओं का गोबर, जो भूमि के लिए अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है, कृषि क्षेत्र की खाद की महत्त्वपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति करता है। ईंधन के अन्य साधन उपलब्ध न होने के फल-स्वरूप, देश में उपलब्ध गोबर का दो-तिहाई भाग ईंधन के रूप में जला दिया जाता है। रासायनिक खाद का प्रयोग तेजी से बढ़ता जा रहा है, परन्तु भूमि की उर्वरक आवश्यकताओं

में रासायनिक खाद के साथ संतुलन बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि गोबर का भी प्रयोग समान रूप से बढ़ाया जाए। इसलिए गोबर खाद का प्रयोग करने के लिए हर संभव प्रयास किया जाना चाहिए। एक सामान्य अनुमान के अनुसार भूमि की उर्वरकता के लिए आवश्यक पूर्ति का दो-तिहाई भाग गोबर से ही प्राप्त होता है।

प्रोटीन और विटामिनों की कमी के फलस्वरूप भारतीय भोजन बहुत ही असन्तुलित होता है। पशुओं से न केवल कृषि उत्पादन में सहायता मिलती है, बल्कि दूध और दूध से बने पदार्थों की सहायता से शारीरिक जरूरत के अनुरूप गुणकारी पदार्थ भी मिल जाते हैं। पोषण विशेषज्ञों ने भी पशु प्रोटीन को भोजन में प्रयोग करने की आवश्यकता की हमेशा वकालत की है। इस प्रकार पशुधन का महत्त्व सामान्य जनजीवन के रहन-सहन के स्तर में वृद्धि की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

राष्ट्र के लिए पशुओं द्वारा दिए गए योगदान के अनेक अनुमान लगाए गए हैं। एक नए अनुमान में चौपायों का राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में सहयोग 1174.65 करोड़ रुपये के समान आँका गया है। पशु-पालन से प्राप्त कुल आय का 64.5 प्रतिशत दूध और दुग्ध-पदार्थों से प्राप्त होता है, 9.7 प्रतिशत पशु खाद तथा ईंधन से, 7.9 प्रतिशत मांस और मांस-पदार्थों से, 2.5 प्रतिशत खालों से, 1.1 प्रतिशत बालों और ऊन से, 2.4 प्रतिशत अण्डे और मुर्गी से, 0.1 प्रतिशत हड्डियों से और 11.6 प्रतिशत पशुधन में वृद्धि के रूप में प्राप्त होता है।

पशुधन की इतनी बड़ी संख्या और इनका भारतीय अर्थव्यवस्था में इतना अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान होने पर भी इनका राष्ट्रीय आय में योगदान अधिक नहीं है। दुःख की बात है कि पशुओं से प्राप्त राष्ट्रीय आय फिर भी बहुत कम है। उदाहरणस्वरूप भारत में कृषि के लिए पशुधन से मात्र 14 प्रतिशत आय प्राप्त होती है, जबकि डेनमार्क में 83 प्रतिशत, स्वीडन में 80 प्रतिशत, इंग्लैंड में 78 प्रतिशत, पश्चिमी जर्मनी में 71 प्रतिशत आय प्राप्त होती है।

पशुओं की जनसंख्या और इसका घनत्व

1971 में की गई पशु गणना के अनुसार, देश में कुल पशुधन—चौपाये, भैंस, बकरी, भेड़, अन्य जानवर—35.53 करोड़ हैं। इसमें से 17.8 करोड़ चौपाये हैं। संख्या की दृष्टि से भारतीय पशुधन का स्थान विश्व में सबसे ऊँचा है। तालिका 7.1 से 1961-1972 की तुलनात्मक पशुसंख्या का अनुमान हो जाता है।

भारत में 17.8 करोड़ चौपाये, 5.8 करोड़ भैंसें, 6.5 करोड़ बकरे-बकरियाँ और 4 करोड़ भेड़ें हैं। इस प्रकार विश्व के 21 प्रतिशत चौपाये, 18 प्रतिशत बकरियाँ, 4 प्रतिशत भेड़ें और आधी से अधिक भैंसें भारत में उपलब्ध हैं। पशुधन की संख्या अपेक्षाकृत गाँवों में अधिक है, क्योंकि जहाँ खेती की जाती है वहाँ पशु पालन भी आवश्यक हो जाता है।

तालिका 7.1

पशुओं की जनसंख्या, 1961-1972 (हजारों में)

श्रेणी	1961	1966	1972
चौपाये	175,557	176,057	178,865
भैस	51,211	52,920	57,941
भेड़	40,223	42,014	40,395
बकरी, बकरे	60,864	64,566	68,024
घोड़े एवं खच्चर	1,327	1,149	996
म्यूल	53	75	—
गधे	1,096	1,054	—
सूअर	5,176	4,975	6,456
ऊँट	903	1,028	1,126
अन्य पशु	22	30	12
कुल पशुधन	336,432	343,868	354,982

सबसे अधिक चौपाये उत्तर प्रदेश में (15 प्रतिशत) फिर मध्य प्रदेश (14 प्रतिशत), बिहार (9.2 प्रतिशत), महाराष्ट्र (8.8 प्रतिशत), राजस्थान (7.5 प्रतिशत), आन्ध्र प्रदेश (7.3 प्रतिशत), पश्चिमी बंगाल (6.5 प्रतिशत) और शेष अन्य राज्यों में पाए जाते हैं। भैंसें भी 21.5 प्रतिशत उत्तर प्रदेश में और शेष आन्ध्रप्रदेश, मध्यप्रदेश, पंजाब, राजस्थान और अन्य प्रदेशों में पाई जाती हैं।

तुलनात्मक घनत्व की दृष्टि से 100 हैक्टेयर क्षेत्र के फसल उत्पादक भाग में महाराष्ट्र और गुजरात में 280 पशु पाए जाते हैं। राजस्थान, दिल्ली, पंजाब, हरियाणा में कम घनत्व है और यह संख्या क्रमश: 96,92, 74 एवं 58 है। पूरे देश की दृष्टि से प्रति 100 हैक्टेयर फसल के उत्पादन क्षेत्र में 116 पशु पाए जाते हैं। भैंसों का अधिकतम घनत्व (57) आन्ध्रप्रदेश में है और न्यूनतम घनत्व पश्चिमी बंगाल (16) और उड़ीसा में (18) है। भारत का औसतन घनत्व 34 भैंसें है।

पशुधन के प्रकार

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि चौपाये और भैंसें कुल पशुधन की संख्या का दो-तिहाई हैं। इस पशुधन को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—

1. कार्यरत पशुधन
2. उत्पादक या दूध देने योग्य पशुधन
3. अनुपयुक्त पशुधन

1. **कार्यरत पशुधन** : देश की कुल कार्यरत पशुसंख्या का 87 प्रतिशत बैल, 9 प्रतिशत भैंसें, 3 प्रतिशत गायें और 1 प्रतिशत भैंसे हैं। इस प्रकार कुल कार्यरत जनसंख्या का 90 प्रतिशत चौपाये हैं। कार्यरत बैलों की संख्या का अनुपात उत्तर प्रदेश में सर्वाधिक है। शेष बिहार, महाराष्ट्र, गुजरात और पंजाब में हैं। इन राज्यों में अधिकांशत: गेहूं, कपास, गन्ना पैदा होता है, जिनका चारा बैलों को मिलता है। राजस्थान में रेतीली भूमि होने के कारण इनका अनुपात बहुत कम है। हिमाचल प्रदेश, जम्मू-कश्मीर में पहाड़ और जंगलात के कारण यह अनुपात कम है। केरल, कर्नाटक और आसाम में चावल, जूट और चाय के चारे को पशु नहीं खा सकते। अत: यहाँ पशुधन संख्या भी अपेक्षाकृत बहुत कम है। कार्यरत पशु संख्या में बैलों की संख्या 46 प्रतिशत है, जबकि भारत में कुल कार्यरत पशु 7.33 करोड़ हैं।

2. **दूध या बच्चे देने वाले चौपाये (गाय)**—भारत एक कृषि प्रधान देश है। स्थायित्व और विकास के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में सक्षम पशुओं के विकास की अधिक आवश्यकता कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी। भारतीय कृषि में चौपायों का अधिक महत्त्व है। अन्य देशों में चौपाये दूध और मांस के लिए ही पाले जाते हैं। भारत में प्रमुख रूप से बोझा ढोने, हल चलाने के लिए इनका प्रयोग किया जाता है क्योंकि मशीनीकृत यंत्रों का बहुत ही कम प्रयोग किया जाता है। बिना चौपायों के खेती और यातायात का काम ही संभव नहीं है। 1971 की गणना के अनुसार 96% दूध देने वाली गायें और 94 प्रतिशत दूध देने वाली भैंसें ग्रामीण क्षेत्रों में ही पाई गई थीं। शेष 4 प्रतिशत गायें और 6 प्रतिशत दूध देने वाली भैंसें शहरी क्षेत्रों में थीं।

3. **अनुपयुक्त पशुधन**—इस श्रेणी में केवल उन प्रौढ़ पशुओं को शामिल किया जाता है, जो न तो दूध देते हैं और न ही प्रजनन करते हैं, अर्थात् अनुत्पादक हैं, लेकिन फिर भी उन्हें उनके मालिकों द्वारा मात्र धार्मिकता या संवेदनशीलता के फलस्वरूप पाला जा रहा है। इस प्रकार के पशुओं की संख्या 2.9 करोड़ अर्थात् कुल चौपायों की संख्या का 12 प्रतिशत है।

भारत में चौपायों की वर्तमान स्थिति

चौपायों का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान होने पर भी भारत में स्थिति असंतोषजनक है। कुपोषण ही पशुओं की वर्तमान बिगड़ती हुई स्थिति का मूल कारण है। स्थिति के बिगड़ने के कुछ कारण निम्नलिखित हैं—

1. अपर्याप्त एवं अनुचित चारा पूर्ति ।
2. उचित देखभाल की कमी (अर्थात् उचित ढंग से पालन-पोषण का अभाव) ।
3. अच्छे उत्पादक (प्रजनन करने वाले) पशुधन की कमी ।
4. पशुओं की बीमारियाँ ।

1. **अच्छे चारे की कमी** : पशु वनस्पतिजीवी जानवर होते हैं। पौधे और वनस्पति तथा खाद्यान्न को वे दूध, माँस और शक्ति में परिवर्तित करदेते हैं, जो मनुष्य के लिए अधिक उपयोगी होते हैं। इस प्रकार अच्छे उत्पादन के लिए पशुओं को मात्रा और किस्म की दृष्टि से अच्छा एवं संतुलित भोजन दिया जाना चाहिए। इसके विपरीत भारत में पशुओं की बहुत बड़ी संख्या अपोषण और अपर्याप्त भोजन से पीड़ित है। दूसरे शब्दों में, चारा और अन्य खाद्य सामग्री जो पशुओं को मिलती है वह उन्हें उचित दशा में रखने के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। उदाहरण के लिए, यदि गाय को थोड़े दिन ही पर्याप्त खाना नहीं मिले तो उसे अपने सामान्य उत्पादन स्तर तक आने में बहुत समय लग जाता है। इसके परिणामस्वरूप कम दुग्ध उत्पादन, देर से बच्चे पैदा होना और अधिक दिनों तक दूध नहीं मिल पाता है।

रबी मौसम में ज्वार-बाजरे के सूखे भूसे की सीमित मात्रा होती है। गेहूं और दालों का भूसा पशुओं के लिए कम प्रयुक्त होता है। गरमी और बारिश के दिनों में सैंकड़ों की संख्या में पशु मर जाते हैं और कुछ समय के लिए उनके मालिक असहाय और अक्षम श्रमिक बनकर रह जाते हैं। अच्छी फसल के समय अधिक भूसा उगाने या संचय करने के भी प्रयत्न नहीं किए जाते। भूसा ऐसी वस्तु है कि इसे विदेशों से आयात भी नहीं किया जा सकता। योजना आयोग के अनुसार उपलब्ध चारा मात्रा 78% पशुओं की जरूरत पूरी कर पाता है, जबकि सही ढंग से उत्पादक चारा केवल 28 प्रतिशत पशुओं को ही उपलब्ध हो पाता है।

2. **उचित ढंग से पालने के ढंग में कमी**—पशुओं को हमेशा प्यार से पाला जाना चाहिए। डराकर या उकसाकर उनसे काम नहीं लिया जा सकता। नियमित ढंग से पशुओं को चारा देना और दूध दोहना चाहिए। हमारे पशु ऐसे अस्वास्थ्यकर स्थान पर रखे जाते हैं जहाँ अँधेरा, गंदगी और सीलन होती है। प्राय: पशुओं के लिए ऐसा छोटा, घुटन वाला कमरा चुना जाता है जहाँ हवा भी आसानी से उपलब्ध नहीं होती। फलस्वरूप वे हमेशा अस्वस्थता की स्थिति में होते हैं तथा उनमें काम करने की इच्छा और शक्ति दोनों का अभाव होता है। थोड़ी-सी बीमारी या खराब स्थिति के परिणामस्वरूप हजारों की तादाद में पशु मर जाते हैं और इसका दुष्परिणाम उनके मालिकों को ही उठाना पड़ता है। साथ ही पशुओं को पूरे वर्ष संतुलित, उचित एवं पर्याप्त खाना भी नहीं मिल पाता। दूध भी पूरी तरह सही तकनीक और आराम

से नहीं निकाला जाता। प्राय: पशुओं के शरीर पर जमी मिट्टी साफ न किए जाने से उनके बाल भी झड़ जाते हैं। वे क्रमशः बेकार हो जाते हैं।

3. **अच्छे प्रजनक (उत्पादक) पशुधन की कमी**—प्रजनन कराने की किस्म घटिया होने से अच्छे पशु भी घटिया किस्म के बच्चे उत्पन्न करते हैं। फलस्वरूप क्रमशः नस्ल घटिया होती जा रही है। अच्छी गाय-भैंसों को यदि अस्वस्थ या कमजोर जानवर से प्रजनन कराया जाएगा तो गाय की किस्म भी खराब हो जाएगी और उत्पन्न बच्चा भी घटिया नस्ल का होगा। गाँवों में जानवरों को ऐसे ही आवारा घूमने दिया जाता है, फलस्वरूप वे किसी जानवर के संपर्क में आकर गर्भित हो जाते हैं। इस प्रकार उनकी नस्ल घटिया होती जा रही हैं। देश के अधिकांश भागों में इतनी मिश्रित किस्म के घटिया पशु पाए जाते हैं कि उनकी नस्ल निर्धारित करना ही बहुत कठिन कार्य होता है। आज भी गाँवों में प्रजनन कराने वाले स्वस्थ बैल या साँड उपलब्ध नहीं होते हैं, फलस्वरूप गाँव वालों को मीलों दूर अच्छे बैल या भैंसे से अपने जानवरों को प्रजनित कराने जाना पड़ता है।

4. **पशुओं की बीमारियाँ**—हमारे चौपायों की घटिया किस्म का कारण पशुओं की बीमारियों का होना भी है। आज भी गाँवों में हमारे पशु अनेक बीमारियों से ग्रस्त हैं, जैसे—रिन्डरपेस्ट, खुर या मुँह की बीमारी, अन्थ्रैक्स, काला ज्वर आदि। राउण्ड वार्म (दाग), फ्लैट वार्म, प्रोटोजा, जीवन नाशक छूत रोग आज भी बहुत पाए जाते हैं। पर्याप्त संख्या में पशु-डाक्टर और दवाइयाँ गाँवों में उपलब्ध न होने के कारण बीमारियों का सही पता नहीं चलता, न सही उपचार ही हो पाता है। फलस्वरूप, पशु-मृत्यु दर बढ़ जाती है।

भारतीय पशुओं में सुधार

भारत में पशुधन घटिया किस्म का पाया जाता है। इसमें किसी भी प्रकार का सुधार चार बातों पर निर्भर करता है—उत्पन्न करना, खिलाना, बीमारी नियन्त्रण और देखभाल।

1. **उत्पन्न करना या प्रजनन**—नस्ल सुधार करने की नीति के संबंध में एक ही महत्त्वपूर्ण संभावना है कि स्थानीय पशुओं का प्रजनन विशेष प्रकार के स्वस्थ बैल या साँडों से कराया जाए। इस कार्यक्रम को कुछ चुने हुए स्थानों पर प्रारम्भ करने के लिए आस्ट्रेलिया और अमेरिका से जर्सी और फ्रेसियन नस्ल के बैल और साँडों को लाया गया था। मिश्रित नस्ल के विकास के लिए भी विभिन्न देशों के सहयोग से अलग राज्यों में कार्यक्रम चलाए गए हैं। कर्नाटक में लालडेन चौपाए के लिए भारत-डैनिश (डेनमार्क) सहयोग, केरल में ब्राउन चौपाए के लिए भारत-स्विश (स्विट्जरलैण्ड) और भारत-जर्मन सहयोग से हिमाचल प्रदेश में नस्ल विकसित करने के विशिष्ट कार्यक्रम प्रारम्भ किए गए हैं। इस कार्यक्रम को अति प्रभावशाली बनाने के लिए भारत सरकार उन्मुक्त विदेशी मुद्रा प्रदान करती है जिससे कि विदेशों

से अच्छी नस्ल के जानवर लाकर विभिन्न राज्यों को अपने कृषि विश्वविद्यालयों में पशुधन की नस्ल सुधारने के लिए वितरित किया जाए। वीर्य बैंक की भी स्थापना बंगलौर में की गई है, जहाँ से कृत्रिम पशु गर्भाधान करने के लिए मिश्रित नस्ल के प्रयोग के लिए साँड का वीर्य मिल जाता है।

मिलिट्री पशुशाला में एक पशु से एक वर्ष में 6000 कि० ग्रा० तक दूध प्राप्त कर लिया जाता है, जबकि देश का औसत 2600 कि० ग्रा० है। प्रतिदिन 40 कि० ग्रा० दूध प्राप्त करने के रिकार्ड कायम कर लिए गए हैं।

2. **भोजन या चराना** वर्तमान समय में चारा और चारे का विकास, पशु विकास की मूलभूत आवश्यकता है जिसपर गंभीरता से ध्यान दिया जाना चाहिए। एक अनुमान के अनुसार वर्तमान उपलब्ध पशुसंख्या के लिए पोषक खाना मात्र 30% को मिल पाता है और शेष 70% को घटिया खाना मिलता है। प्रथम योजना के पूर्व भी हमारे किसान पशु चारे के लिए चारे की फसलें जैसे—ल्यूसर्न, हर्सीम, मटर और गोड आदि तैयार करते थे। धीरे-धीरे बड़ी किस्म की मैथिर, गायना घास, रोड्स घास और पेरा घास के उत्पादन का रिवाज अनेक क्षेत्रों में बढ़ता गया। तीन प्रान्तीय स्थानों पर पशु चारे के उत्पादन, संग्रहन और प्रयोग करने के लिए प्रदर्शन केंद्रों की स्थापना की गई है। इनमें से दो केंद्रों को संयुक्त राष्ट्र की सहायता से घास और चारा विकास परियोजना के अन्तर्गत साज-सामान, प्रशिक्षण, और तकनीकी विशेषज्ञों के रूप में सहायता प्राप्त हो रही है। तीन केन्द्रों से बीज, पौधे आदि की पशुधन के स्थानों, राजकीय संस्थानों और अन्य केन्द्रों के विकास, वृद्धि और वितरण के लिए पूर्ति की जा रही है। किसानों को चारा उगाने के लिए उन्नत किस्म के बीज की आपूर्ति का कार्य राष्ट्रीय बीज निगम भी कर रहा है। कुछ राज्य सरकारें भी चारे के बीज उत्पादन करने का काम कर रही हैं, जिससे कि बीज की आपूर्ति में वृद्धि की जा सके। इस बात के लिए विशेष प्रयत्न किए जा रहे हैं कि कृषि और उद्योग के लिए बेकार परन्तु पशु-चारे के लिए उपयुक्त सामग्री का चारे और मुर्गी-पालन में प्रयोग किया जा सके।

3. **बीमारी नियंत्रण**—मिश्रित किस्म और आयातित तकनीक से जन्मे पशु स्थानीय वातावरण के अभ्यस्त नहीं हो पाए हैं, अतः शीघ्र ही बीमारी पकड़ने की स्थिति में हो जाते हैं और स्थानीय पशुओं की अपेक्षा उन्हें अधिक सुरक्षा की जरूरत पड़ती है। विदेशी किस्म के पशुओं के कारण भी अनेक नई बीमारियाँ बढ़ गई हैं। अतः पशुओं की बीमारियों का नियंत्रण, जानवरों के अस्पतालों की सुविधाएँ खण्ड स्तर पर और पशुओं के संगठित स्थानों पर सुलभ होनी चाहिए। अनेक दवाखानों और जाँच-पड़ताल केंद्रों में टीके या अन्य दवा आदि उपलब्ध की जानी चाहिए। इस समय बड़े पैमाने पर जानवरों के रोग विशेषज्ञों की

सहायता से पूरे देश में पशुओं की बीमारी के नियंत्रण का कार्य किया जा रहा है। 1954 में रिवडर पेस्ट नामक बीमारी को नियंत्रित करने का कार्यक्रम व्यापक रूप से चलाया गया था। 8,000 के स्थान पर 1973-74 में मात्र 200 पशुओं को यह रोग एक वर्ष में हुआ। खुर और मुँह की बीमारियों को भी रोकने के पर्याप्त प्रयत्न किए जा रहे हैं। विभिन्न राज्यों में बीमारी जाँच प्रयोगशालाएँ और जीव-विज्ञान इकाइयाँ स्थापित की गई हैं।

4. **पशुओं की देखभाल**—पशुधन विकास के लिए पशुओं की देखभाल की व्यवस्था सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है। इसके अन्तर्गत पौष्टिक आहार की व्यवस्था करना होता है जो कि एक अच्छे और लम्बे अनुभव से ही संभव हो सकता है। पशुओं को ढंग से उचित स्थानों पर रखना और उनके साथ बेरहमी से पेश न आना भी देख-भाल में शामिल होता है। इस प्रकार, मात्र देखभाल में सुधार से ही पशु उत्पादन में वृद्धि हो सकती है। इसमें पशुओं के रहने के स्थान पर उचित सफाई का ध्यान रखना आवश्यक होता है। घर के सदस्य की तरह, पशु को भी अत्यधिक ठण्ड, गर्मी, हवा, पानी, बारिश से बचाव तथा गरम-ठण्डे स्थान आदि की आवश्यकता पड़ती है और वह इससे प्रभावित भी होता है। इसलिए उनके रहने के स्थान मौसम के अनुसार आरामदायक, उचित ढंग से प्रकाशित, हवादार और साफ़ होने चाहिएँ। घर की व्यवस्था इस प्रकार से हो कि दूध निकालने, चारा और गन्दगी (मल-मूत्र) की सफ़ाई का काम सुविधानुसार हो सके। यदि पशु के रहने का स्थान स्वास्थ्यकर नहीं है, तो संभवतः उसके पास में रहने वाले मनुष्य भी बीमारी से नहीं बच सकेंगे क्योंकि पानी और वायु में तो गन्दगी बढ़ ही जाती है।

पशुओं के अनेक छूत के रोगों की रोकथाम समय पर दवा या टीका लगाने से भी हो सकती है। छूत की बीमारी फैलने पर सभी पशुओं की भली प्रकार जाँच की जानी चाहिए और जो पशु थोड़े भी प्रभावित हों, उन्हें एकदम अलग कर देना चाहिए। इनके रहने के स्थान पर एकदम कीटनाशक दवा का छिड़काव किया जाना चाहिए। अनेक दुधारू पशु ठीक ढंग से दूध निकालने पर स्वयं भी इसमें सहयोग प्रदान करते हैं। सूखे हाथों से दूध निकालना चाहिए। दूध निकालने के स्थान और दूध का बर्तन एकदम कीटाणुरहित और साफ़ होना चाहिए। कार्यरत पशुओं से अधिक काम नहीं लेना चाहिए। कड़ी जमीन या अनाज को दबाने के समय उनके पैरों में नाल ठुकवा दी जाती है, अन्यथा उनके पैर खराब हो जाने का डर बना रहता है।

दुग्ध उत्पादन एवं दुग्ध आपूर्ति

भारत जैसे देश की बहुसंख्यक शाकाहारी जनसंख्या के लिए दूध और दूध से बने पदार्थ प्रोटीन और विटामिन प्रदान कर सकते हैं। ग्रामीण कृषकों के लिए लाभ और आय के आधार के रूप में उचित प्रकार से स्थापित दुग्ध उत्पादन इकाई के महत्त्व को सभी क्षेत्रों में महसूस

किया जा रहा है। यहाँ गाय और भैंस दोनों ही दुग्ध उत्पादन के लिए महत्त्वपूर्ण जानवर हैं। यद्यपि बकरी का भी दूध प्रयोग किया जाता है, परन्तु कुल उपभोग का 4 प्रतिशत, जबकि भैंस का 53 प्रतिशत और गाय का 43% दूध प्रयोग किया जाता है। बड़ी संख्या में दूध की आपूर्ति ग्रामीण क्षेत्रों से की जाती है। उत्तर प्रदेश सबसे बड़ा दुग्ध उत्पादक राज्य है, इसके बाद पंजाब, बिहार, आन्ध्र प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश हैं। उड़ीसा में बहुत ही कम दुग्ध उत्पादन होता है।

डेनमार्क, स्वीडन, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैन्ड और संयुक्त राज्य अमेरिका की अपेक्षा भारत में दूध का बहुत ही कम उत्पादन होता है। सन् 1881 में दूध से क्रीम अलग करने के यंत्र का सर्वप्रथम प्रयोग भारत में किया गया था। सन् 1891 में इलाहाबाद में सर्वप्रथम बड़े पैमाने के दुग्ध उत्पादन केन्द्र को प्रारम्भ किया गया था। क्रमशः अन्य स्थानों पर भी दुग्ध उत्पादन केन्द्रों की स्थापना होने से सन् 1920 में भारतीय दुग्ध उत्पादक विशेषज्ञ की नियुक्ति की गई थी।

स्वतंत्रता के पश्चात् 141 दुग्ध उत्पादन केन्द्र स्थापित हो चुके हैं। इनमें से 79 में तरल दुग्ध परियोजना, 50 ग्रामीण दुग्ध केन्द्र के रूप में, 12 दुग्ध पदार्थ बनाने के कारखानों के रूप में तथा 3 में क्रीम अलग निकालने का काम किया जाता है। इसके अतिरिक्त 31 नये दुग्ध उत्पादन परियोजनाओं को पूरा करने का काम चल रहा है।

दुग्ध उत्पादन

भारत में 1951 के 1.7 करोड़ टन दुग्ध उत्पादन के स्थान पर 1973-74 में 2.3 करोड़ टन दूध का उत्पादन हुआ। विश्व के उत्पादन का 7 प्रतिशत भारत में उत्पन्न होता है। रूस के बाद भारत का स्थान विश्व उत्पादकों में है। भारत में औसतन वार्षिक दुग्ध उत्पादन एक गाय से 197 किलोग्राम, भैंस से 504 किलोग्राम और बकरी से 55 किलोग्राम है। इसकी तुलना में नीदरलैण्ड में 4220 किलोग्राम, अमेरिका में 4154 किलोग्राम और डेनमार्क में 3902 किलोग्राम प्रतिवर्ष एक चौपाए से दूध प्राप्त होता है। भारत में प्रतिदिन औसतन अधिकतम उत्पादन प्रत्येक गाय से 2.28 किलोग्राम और भैंस से 3 99 किलोग्राम (वार्षिक औसत के आधार पर) है। कुल भारत का औसत प्रतिदिन का उत्पादन 108 ग्राम है।

डॉ० सुखात्मक के अनुसार भारत में प्रत्येक व्यक्ति को पोषण उद्देश्यों के लिए कम से कम 201 ग्राम दूध का अवश्य सेवन करना चाहिए। इस प्रकार 201 ग्राम प्रतिदिन प्रति व्यक्ति की आवश्यकता-पूर्ति के लिए 1981 में 5.126 करोड़ टन दूध की आवश्यकता पड़ेगी, जबकि उत्पादन 1977 में मुश्किल से तीन करोड़ टन हो पाया था। इससे उत्पादन और आवश्यकता का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। एक अनुमान के अनुसार मात्र 39.8 प्रतिशत दूध पीने के रूप में प्रयुक्त होता है और 38.7 प्रतिशत का घी बना लिया जाता है। शेष 21.5

प्रतिशत की दही, 6.1 प्रतिशत का मक्खन, 4.8 प्रतिशत का खोया, 0.5 प्रतिशत की आइस-क्रीम, 0.7 प्रतिशत की क्रीम और शेष 0.5 प्रतिशत के दुग्ध पदार्थ जैसे—मलाई और पनीर बना लिए जाते हैं।

लगभग 80 प्रतिशत जनसंख्या वाले ग्रामीण क्षेत्रों में 95 प्रतिशत दूध देने वाले पशु पाए जाते हैं। लेकिन दूध की प्रभावशाली माँग शहरों में ही होती है, जहाँ मात्रा और किस्म की दृष्टि से दूध की आपूर्ति बहुत ही असंतोषजनक पाई जाती है। इसके प्रमुख कारण हैं शहरों के पास के गाँवों में असंगठित उत्पादन, यातायात की कठिनाइयाँ, शहरों में दुग्ध उत्पादन की अस्वास्थ्यप्रद दशाएँ, ऊँचे मूल्य एवं बड़ी मात्रा में मध्यस्थों या दुकानदारों का होना।

दुग्ध उद्योग को भारत में अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है, जैसे—घटिया किस्म के दुग्ध उत्पादन, पशु चारे की अपर्याप्तता, बीमारियों का आधिक्य, असंगठित एवं लघु पैमाने पर उत्पादन, दूध और दुग्ध पदार्थों का अस्वास्थ्यकर ढंग से संग्रहण, यातायात सुविधाओं की कमी तथा दुग्ध उत्पादन के लिए आयातीत मशीनों पर निर्भरता आदि। दुग्ध उत्पादन में तकनीकी और प्रशिक्षित कर्मचारियों की कमी, विक्रय संगठित न होना, दूध को ठण्डा करने या वातानुकूल करने की सुविधाओं और चिकित्सा सुविधाओं का अभाव, दुग्ध उद्योग की उन्नति में बाधक हैं।

मछली पालन

अविकसित ढंग से संचालित मछली उद्योग से भारत में 70 करोड़ रुपये की राष्ट्रीय आय प्राप्त होती है और लगभग 30 लाख ग्रामीण जनसंख्या को पूर्णकालीन रोजगार प्राप्त होता है। चूँकि मछली में अपेक्षाकृत प्रोटीन और पोषक तत्व अधिक होते हैं, अतः भारत जैसे देश में जहाँ दूध और माँस का कम उपयोग किया जाता है, संतुलित आहार के रूप में मछली के उपभोग को बढ़ावा दिया जा सकता है। बहुत बड़े क्षेत्र में जनसंख्या का यह महत्त्वपूर्ण भोजन है। यह समुद्र, नदियों और स्थानीय एकत्रित पानी से प्राप्त होती है। भारत के तीन ओर 5700 कि०मी० लम्बाई में समुद्र है। इसके साथ-साथ 259,000 वर्ग कि० मी० क्षेत्र में अनेक नदियां बहती हैं, और अनेक स्थानों पर संचित पानी 80,000 हैक्टेयर क्षेत्र में स्थित है, जहाँ से मछलियाँ उपलब्ध हो सकती हैं। मछली केन्द्रों और समुद्र के किनारे से आन्तरिक स्थानों तक मछली लाने के कार्य में अनेकों ट्रक, कार और वातानुकूलित गाड़ियाँ प्रयोग में लाने पर अन्य अनेक लोगों को रोज़गार प्राप्त होता है।

स्वतंत्रता के पश्चात् डिब्बाबन्द और जमी हुई मछलियों के निर्यात व्यापार में वृद्धि हुई है। 1974 में मछली निर्यात से 100 करोड़ रुपये की विदेशी मुद्रा अर्जित की गई थी। कुल मछली उत्पादन का लगभग आधा भाग तो ताजा भोजन के रूप में ही प्रयोग कर लिया

जाता है, 1/5 भाग को डिब्बाबन्द कर दिया जाता है, 1/5 भाग सुखा लिया जाता है और लगभग 10 प्रतिशत की खाद बना ली जाती है। कुल मछली उत्पादन का 70 प्रतिशत समुद्र से और 30 प्रतिशत अन्य क्षेत्रों से प्राप्त होता है।

मछली पालन विकास कार्यक्रम

भारत में "अधिक अन्न उगाओ आन्दोलन" के अन्तर्गत मछली-पालन विकास कार्यक्रम को धीमी गति से आरम्भ किया गया। प्रथम योजना में ही इस पर विस्तार से कार्यक्रम बनाए गए। मछली-पालन विकास कार्यक्रम को दो भागों में बाँटा जा सकता है— समुद्री तथा आन्तरिक। समुद्री मछली-पालन कार्यक्रम के अन्तर्गत यंत्रवत नावों का अधिकाधिक प्रयोग, नए-नए मत्स्य स्थानों की तलाश, मछली पकड़ने की पद्धति में अनुसंधान तथा इसके लिए यातायात, संग्रहण, क्रय-विक्रय आदि सुविधाओं का प्रदान करना आता है। आन्तरिक मछली-पालन कार्यक्रम का उद्देश्य संचित जलाशयों का विकास करना, मछलियों के लिए अच्छे-अच्छे बीजों की खोज करना आदि है।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में मछली पालन का विकास करने के लिए कुछ निम्न प्रमुख कार्यक्रम बनाए गए थे—

1. मछली उत्पादन को बढ़ावा देना।
2. मछुओं की आर्थिक और सामाजिक स्थिति में सुधार और उनकी रोजगार सुविधाओं में वृद्धि करना।
3. मछली और मछली पदार्थों के विक्रय को बढ़ावा देना।

इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए पाँचवीं योजना में आन्तरिक स्रोतों से मछली पकड़ने का लक्ष्य 10 55 लाख टन रखा गया था (जबकि 1973-74 में 7.84 लाख टन मछली का उत्पादन हुआ था।) इसका दो-तिहाई भाग पहले से ही स्थापित केन्द्रों में उत्पादकता एवं तकनीक बढ़ाकर प्राप्त करना था और प्रति हैक्टेयर हल क्षेत्र से 300 से 900 किलोग्राम प्रतिदिन मछली अलग प्राप्त की जानी थी। 50,000 हैक्टेयर क्षेत्र को विकसित करके 90,000 टन मछली प्रतिदिन प्राप्त की जा सकती है। इसी प्रकार समुद्री मछली पकड़ने का लक्ष्य 14.85 लाख टन से बढ़ाकर 20.55 लाख टन रखा गया है। इसके लिए 4,000 अतिरिक्त मोटर बोट और 200 छोटे अतिरिक्त जहाजों की आवश्यकता पड़ेगी। बन्दरगाहों का भी अलग से विकास किया जाएगा, जिनमें यातायात, वातानुकूलन, विधिगत क्रिया आदि की सुविधाओं को उपलब्ध कराना होगा। संभावित खाद्य समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए यह आवश्यक है कि मछली को भोजन के रूप में विकसित करने की संभावनाओं को बढ़ावा दिया जाए।

भेड़ पालन का विकास

भेड़ों की संख्या की दृष्टि से भारत का विश्व में छठा नम्बर है। भारत में सन् 1956 में 3.9 करोड़ भेड़ें थीं, जो 1966 में 4.2 करोड़ हो गई। भेड़ों से केवल ऊन ही प्राप्त नहीं होती, बल्कि मांस, खाल और खाद बनाने में भी इसके शरीर का प्रयोग होता है। सबसे अधिक भेड़ें आन्ध्र प्रदेश में पाई जाती हैं, इसके पश्चात् तमिलनाडु, कर्नाटक, उत्तर प्रदेश का स्थान है। देश के विभिन्न भागों में पाई जाने वाली भेड़ों की किस्म में बहुत अन्तर पाया जाता है। हिमालय और पश्चिमी राज्यों में अधिक ऊन देने वाली भेड़ें होती हैं। भेड़ की प्रमुख नस्लों में गुरज, कर्नेत,. बाखर्वाल, गद्दी, रामपुर भूषण और पहाड़ी क्षेत्रों में लोहो, बीकानेरी, मारवाड़ी, बुच्चो, काठियावाड़ी नस्लें पाई जाती हैं। दक्षिण और पूर्वी भागों में भी भेड़ों पर बहुत ऊन नहीं मिल पाती, क्योंकि इनके बाल अधिक होते हैं, इसलिए इनका प्रयोग मांस के उद्देश्य से किया जाता है। यहाँ मुख्य नस्लें हैं—दक्खिणी, नैल्लोर, बेलांज, मंडूया और बंडूर।

ऊन और मांस की दृष्टि से भेड़ों के उत्पादन की बहुत कमी है। अधिकतर ऊन घटिया किस्म की होती है। अतः कालीन एवं कंबल बनाने के काम आता है।

भेड़ों का विकास कार्यक्रम में वर्तमान उपलब्ध नस्ल और मात्रा का ही उचित ढंग से प्रयोग करने की आवश्यकता है। मिश्रित नस्ल का विकास करके भी उत्पादकता बढ़ाई जा सकती है।

विभिन्न योजनाओं में भेड़ों से प्राप्त उत्पादन की वृद्धि के लिए आवश्यक एवं संगठित प्रयास किए गए हैं। विदेशों से आयातित भेड़ों की नस्ल से भारत में मिश्रित नस्ल का विकास करने के परीक्षण किए गए है, जिससे कि अच्छी किस्म की ऊन मिल सके। हिसार में एक बड़ा भेड़ पालन एवं विकास केन्द्र खोला गया है, जिसमें नस्ल बढ़ाने की सुविधा, संयंत्र, विशेषज्ञ आदि आस्ट्रेलिया से उपलब्ध कराए गए हैं। आन्ध्र प्रदेश, जम्मू-कश्मीर एवं कर्नाटक में पहले ही तीन केन्द्र इसी प्रकार की सुविधाएँ प्रदान कर रहे हैं। 1960-61 में देश में 14 भेड़ विकास केन्द्र थे, जो बढ़कर 1973-74 में 45 हो गए। संयुक्त राष्ट्र की सहायता से राजस्थान में एक ऐसे केन्द्र की स्थापना की गई है जिसमें भेड़ों की ऊन निकालने, श्रेणीयन करने और विक्रय की व्यवस्था है। अब आठ और केन्द्रों में भी यह सुविधा बढ़ाने का कार्य पूरा हो जाएगा। 1979 तक मांस उत्पादन का लक्ष्य 25.84 करोड़ किलोग्राम था।

मुर्गी पालन का विकास

अंडे और मांस के रूप में प्रोटीन अधिक मात्रा में मुर्गीपालन कार्यक्रम से प्राप्त हो सकता है। कम पूँजी और अधिक लाभ की संभावना से ग्रामीण क्षेत्रों में मुर्गीपालन के विकास की अधिक संभावनाएँ है। 1951 में 7.35 करोड़ मुर्गियों का उत्पादन हुआ, जो 1972 में

बढ़कर 13.67 करोड़ हो गया। सबसे अधिक मुर्गियाँ आन्ध्र प्रदेश में पाई जाती हैं। उसके बाद बिहार, पश्चिमी बंगाल और तमिलनाडु का नंबर आता है। भारत में देशी और परिष्कृत उन्नत किस्म की मुर्गियाँ पाई जाती हैं। प्रति मुर्गी साल में 75 अंडे देती हैं। देश में 1973-74 में 7 करोड़ अंडे उत्पन्न हुए थे जबकि 1961 में 2.529 करोड़ उत्पादन था। देश में प्रति व्यक्ति के लिए 180 अंडों की साल भर में आवश्यकता पड़ती है, जबकि औसत उत्पादन मात्र 13 अंडे प्रति व्यक्ति होता है।

कम उत्पादन की समस्याएं और कारण

पहले अंडे प्राप्त करने के लिए मुर्गियाँ बहुत कम पाली जाती थीं। आज भी मुर्गी पालन का कार्य एक उद्योग के रूप में बहुत ही असंगठित है। इसके संबंध में कुछ समस्याएँ निम्न हैं —

1. ग्रामीण क्षेत्रों में मुर्गियों को पालने में अच्छे रहने के स्थान, उन्नत खाने, प्रजनन और बीमारियों की रोकथाम की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता।
2. प्रायः बीमारियों से सभी मुर्गियाँ मर जाती हैं और मालिक को बहुत नुकसान होता है।
3. मुर्गी पालन के क्षेत्र में वैज्ञानिक ज्ञान की कमी।
4. मुर्गियों के प्रबंध और विक्रय की अनुपयुक्त व्यवस्था।
5. ग्रामीण क्षेत्रों में अंडों को जमा करने की व्यवस्था में कमी।
6. मुर्गी खाद्य-पदार्थ के अधिक ऊँचे दाम।

मुर्गी पालन में अच्छा उत्पादन शीघ्र होने लगता है ; 8-10 सप्ताह में बच्चा तैयार हो जाता है और अंडे से निकलने के 20-24 सप्ताह में मुर्गी अंडे देने लगती है। अच्छी किस्म के चूजों के उत्पादन के लिए 5 केन्द्रों की स्थापना की गई है। ये स्थान हैं—बंगलौर, बम्बई, भोपाल, दिल्ली और कामला (शिमला)। प्रत्येक केन्द्र में 50,000 अच्छी नस्ल के चूजे तैयार करके बेचे जाएँगे। इसी प्रकार के 25 मुर्गी पालन केन्द्र बड़े पैमाने पर राज्य सरकारें चला रही हैं। अनेक निजी क्षेत्र के व्यापारी 5,000 से 10,000 अंडे की क्षमता के मुर्गीपालन केन्द्र चला रहे हैं।

चतुर्थ योजना में मुर्गीपालन के विकास के लिए बंगलौर में एक विशेष प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किया गया था, जिससे कि वर्तमान मुर्गीपालन कार्य को संगठित और बड़े पैमाने पर चलाया जा सके। पाँचवीं योजना काल में अंडों के उत्पादन में प्रतिवर्ष 10 प्रतिशत वृद्धि होने की संभावनाएं हैं, जिससे कि 1979 में 1244 करोड़ अंडों का उत्पादन हो सके।

ग्रामीण सामर्थ्य को ध्यान में रखते हुए मुर्गी पालन के विकास से ग्रामीणों की व्यावसायिक आय बढ़ेगी। शहरों में अच्छे व्यवसाय के रूप में मुर्गी पालन की अच्छी संभावनाएँ हैं।

सूअर पालन का विकास

प्रोटीन युक्त मांस के स्रोत के रूप में सूअर अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। स्थानीय सूअरों की उत्पादन दर कम होने के फलस्वरूप ये व्यापारिक उद्देश्यों के लिए अपर्याप्त और अनार्थिक सिद्ध होते हैं। साथ ही इनका कम वजन, छोटा कद, और देर से प्रजनन भी इनके विकास में बाधक सिद्ध होता है। कुछ उन्नत किस्में, जैसे—योर्कशायर, लैण्डरको, हैम्पशायर व्यावसायिक उद्देश्यों के लिए आदर्श समझी जाती हैं। भारत में 1972 में 64 लाख सूअर थे, जो विश्व की संख्या का 1 प्रतिशत हैं। इनसे 50,000 टन मांस मिलता था। हैरिंगटुआ (पश्चिमी बंगाल), कुथाटुकुलम (केरल), वोरिविल्ली (महाराष्ट्र), गन्नावरम् (आन्ध्र प्रदेश), अल्वर (राजस्थान), अलीगढ़ (उत्तर प्रदेश) और रांची (बिहार), सात केन्द्रों में सूअर की नस्ल के विकास और मांस के विधिकरण के कारखाने स्थापित किए गए हैं। इन क्षेत्रीय केन्द्रों से सूअर के विकास के लिए अच्छी नस्ल के बच्चे, स्वास्थ्य की जानकारी और आधुनिक ढंग से सूअर पालने का प्रशिक्षण किसानों को दिया जाता है। अभी तक 52 सूअर फार्म और 174 सूअर पालन विकास खण्डों की स्थापना हो चुकी है। केन्द्रीय उत्पाद संस्थानों से पूरे देश में उन्नत और चुनी हुई किस्म के सूअर अधिक उत्पादन उद्देश्यों के लिए दिए जाते हैं। पाँचवीं योजना में गहन सूअर विकास परियोजनाएँ चालू करने का कार्यक्रम था। इसी प्रकार 23 अतिरिक्त सूअर नस्ल वृद्धि केन्द्र मांस की फैक्ट्रियों के पास खोलने का कार्यक्रम था जिससे कि उन्नत किस्म के आयातित सूअर के नस्ल सुधार और उत्पादन वृद्धि में सहायता प्राप्त हो सके।

अध्याय 8

सामुदायिक विकास एवं पंचायती राज

भारतीय परिस्थितियों का एक महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि भारत की जनसंख्या का एक विशाल भाग गाँवों में रहता है। यह ग्रामीण समुदाय गरीबी से पीड़ित है और अशिक्षा, अज्ञानता, बीमारी और सामान्य दृष्टिकोण की संकीर्णता की मिश्रित समस्याओं को हल कर पाने में असमर्थ जान पड़ता है। सरकारी और गैर-सरकारी प्रतिनिधि संस्थाओं द्वारा ग्रामीण पुनर्निर्माण के क्षेत्र में जो भी प्रयत्न किए गए हैं, उनका लाभ कुछ संकुचित क्षेत्रों में ही प्राप्त करने के लिए समायोजित किए विकास का ही बाहुल्य रहा है। योजना आयोग ने भी 1951 में प्रथम योजना के प्रारूप के अन्तर्गत इस तथ्य को माना है। भारत-अमरीकी तकनीकी सहयोग समझौता (1952) इस क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण कदम कहा जा सकता है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में सामुदायिक विकास को एक नीति के रूप में घोषित किया गया और राष्ट्रीय विस्तार सेवा से ग्रामीणों के आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तन की विधि को प्रथम योजना द्वारा एक माध्यम के रूप में स्वीकार किया गया।

सामुदायिक विकास की विचारधारा

सामुदायिक विकास को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है—"समुदाय की प्रेरणा या पहले से पूरे समुदाय के सक्रिय सहयोग द्वारा अच्छे रहन-सहन की सुविधाएँ बढ़ाने के प्रति किया गया प्रयत्न या आन्दोलन सामुदायिक विकास है।"

उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि सामुदायिक विकास का कार्यक्रम ग्रामीण उत्थान के प्रति कार्य है। सामुदायिक विकास में श्रम, प्रबन्ध करना, स्थानीय सामग्री का जुटाना आदि के रूप में ग्रामीणों के योगदान के साथ-साथ सरकारी नीतियों का भी समावेश कर लिया जाता है। इन नीतियों के अन्तर्गत कृषि विकास, भूमि-कटाव को रोकना, पानी के साधनों में वृद्धि करना, सहकारिता का विकास, पशु एवं जंगलों का विकास, शिक्षा प्रसारण, क्रय-विक्रय सुविधाओं को जुटाना आदि आते हैं।

योजनाबद्ध राष्ट्रीय योजना के एक भाग के रूप में सामुदायिक विकास की अनिवार्यता महसूस की गई है। एक विधि के रूप में इसके अन्तर्गत क्रमबद्ध और परस्पर-निर्भर परिवर्तन

के कार्यक्रम शामिल हैं, जैसे—आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं मनोवैज्ञानिक। लोगों को संकीर्ण आदर्श के चंगुल से मुक्त करने के लिए सामुदायिक विकास को एक आन्दोलन के रूप में चलाने का प्रयत्न किया गया है। विभिन्न स्थानीय साधनों से बहुमुखी विकास के स्थानीय उपलब्ध साधनों से सामुदायिक विकास को संतुलित कार्यक्रम के रूप में स्वीकार किया गया है। इस कार्यक्रम से आशा यह की जाती है कि सम्पत्ति और कल्याण के पारस्परिक सामंजस्य से सभी को सहायता प्रदान की जाएगी और यह सहायता किसी बाहरी सहायता पर निर्भर न होगी।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम के उद्देश्य

देश के पिछड़े, अर्द्ध-विकसित एवं अविकसित क्षेत्रों में विकास के अवसर प्रदान करने की योजना सामुदायिक विकास कार्यक्रम में निहित है। इन क्षेत्रों की प्रमुख समस्या यह है कि श्रेष्ठतम संभव तरीके से अतिरिक्त श्रम और सीमित उपलब्ध साधनों का अधिक से अधिक लोगों के अधिकतम लाभ के लिए प्रयोग नहीं हो पाता है। लोगों के धन और कल्याणकारी गतिविधियों में विकास के प्रति प्रयत्न सामुदायिक विकास कार्यक्रम से संभव किए जा सकते हैं। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना में राज्य और सामान्य जनता के उद्देश्यों की पूर्ति पर अधिक जोर दिया जाता है।

श्री टी० टी० कृष्णमाचारी ने सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के निम्न उद्देश्यों को अधिक महत्त्वपूर्ण माना है—

1. राज्य की ग्रामीण जनता को दीर्घकालिक बेरोजगारी से निकालकर पूर्ण रोजगार के प्रति निर्देशित करना।
2. वर्तमान कृषि के अर्द्ध-उत्पादन के स्थान पर वैज्ञानिक ज्ञान के प्रसार से कृषि उत्पादन क्षमता का पूर्ण प्रयोग करना।
3. ग्रामीण परिवारों की साख-योग्यता में वृद्धि करके सहकारिता के सिद्धान्त का अधिकतम विस्तार करना।
4. पूरे समुदाय के लिए सामुदायिक प्रयत्नों में वृद्धि करना, जैसे—कुएँ, गाँवों में सड़कें, स्कूल, अस्पताल, सामुदायिक केन्द्र, मनोरंजन की सुविधाएँ, बच्चों के खेलने के पार्क आदि।

श्री हैमर्कजोल्ड ने अपनी संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रेषित रिपोर्ट (भारत में सामुदायिक विकास कार्यक्रम) में लिखा है —

"सामुदायिक विकास योजना और राष्ट्रीय विस्तार सेवा योजना का उद्देश्य गाँवों में पर्याप्त खाना, कपड़ा, घर, स्वास्थ्य सेवाएँ मात्र प्रदान करना ही नहीं है, वरन् लोगों के दृष्टिकोण में परिवर्तन करना भी है जिससे उनमें संपन्न एवं संपूर्ण जीवन जीने की इच्छा जागृत हो, व्यक्ति अपनी योग्यताओं को समझे और अपने लिए वह स्व। ही श्रेष्ठ मालिक भी हो सके।"

सामुदायिक विकास कार्यक्रम, साधनों का विदोहन, ग्रामीणजनों के प्रयोग और उन े प्राथमिकता के प्रति जागरूकता के लिए एक साधन माना जा सकता है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अनुसार—

"सामुदायिक विकास योजना का प्रमुख आधारभूत उद्देश्य क्षेत्रीय आधार पर सामग्री और मानवीय साधनों का पूर्णतम प्रयोग करना है ताकि ग्रामीण समुदाय का विकसित उच्च जीवन स्तर लोगों की स्वंय की सक्रिय भागेदारी और पहल से संभव हो सके।"

सामुदायिक विकास कार्यक्रम को लागू करना

2 अक्टूबर, 1952 को यह कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया और 55 खंडों को विकासशील बनाने के लिए चुना गया। प्रत्येक खंड में 400 से 500 कि० मी० क्षेत्र की 60-70 हजार जनसंख्या के 100 गाँवों को शामिल किया गया। 2 अप्रैल, 1974 को सामुदायिक विकास खंडों की संख्या 5, 123 थी जिसमें लगभग 47.1 करोड़ की जनसंख्या और 5.66 लाख गाँव शामिल थे। सन् 1958 के पूर्व यह कार्यक्रम तीन विभिन्न चरणों में ही चलाया गया। अप्रैल 1958 की परिवर्तित पद्धत्ति से कार्यक्रम दो चरणों में विभाजित हो गया। यह परिवर्तन बलवन्तराय मेहता समिति की सिफारिशों के आधार पर किया गया। अब विकास का प्रथम चरण पाँच वर्ष की अवधि में पूरा करने के पश्चात् द्वितीय चरण में अपेक्षाकृत कम बजट से सामुदायिक विकास के कार्यक्रम चालू रखने होते हैं।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम की विशेषताएँ या प्रारूप

सामुदायिक विकास परियोजना के तीन महत्त्वपूर्ण प्रारूप हैं—

1. कृषि, पशु पालन, मुर्गी पालन, मछली पालन के क्षेत्रों में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करके रोजगार और उत्पादन में वृद्धि करना और कुटीर एवं लघु उद्योगों की स्थापना करना।
2. ग्रामीणों में सहकारी प्रयत्नों की वृद्धि करना, जिससे कि प्रत्येक गाँव में एक बहुउद्देश्यीय सहकारी समिति बनाई जा सके जिसमें व्यावहारिक रूप से गाँव के प्रत्येक परिवार को प्रतिनिधित्व मिल सके।

3. समुदाय के सामान्य हितों की वृद्धि के लिए संगठित प्रयत्न, उदाहरण स्वरूप गाँवों में सड़कें, पानी के संग्रह करने के स्थान, स्कूल, स्वास्थ्य केन्द्र आदि, जिससे कि ग्रामीण जनता में विकसित दृष्टिकोण प्रसारित हो सके।

संगठनात्मक प्रारूप या नमूना

सामुदायिक विकास कार्यक्रम का प्रशासन केन्द्र, राज्य, जिला व खंड विभिन्न स्तरों के लिए बनाया गया है। केन्द्र में कृषि एवं सिंचाई मंत्रालय के आधीन सामुदायिक विकास विभाग इस कार्यक्रम का एक मात्र नियंत्रक है। इस कार्यक्रम को सफलतापूर्वक लागू करने के लिए योजना आयोग और कृषि मंत्रालय की एक उच्चस्तरीय केन्द्रीय समिति भी है। यह उच्च स्तरीय केन्द्रीय समिति नीति निर्धारण और सामान्य प्रशासन का कार्य करती है। आर्थिक विकास के कार्यक्रमों में वृद्धि करना भी इसी केन्द्रीय समिति का उत्तरदायित्व है। प्रत्येक राज्य में विकास आयुक्त (जो सामुदायिक विकास कार्यक्रम का प्रभारी होता है) निर्देशन और समन्वय का कार्य सम्पन्न करता है।

राज्य स्तर पर सामुदायिक विकास कार्यक्रम को लागू करने का उत्तरदायित्व संबंधित राज्य सरकार का होता है। केन्द्रीय समिति की भाँति राज्य समिति का गठन किया गया है, जिसका सचिव भी उच्चस्तरीय अधिकारी होता है। तकनीकी सलाहकार समिति एवं विशेषज्ञों के समूह का अध्यक्ष राज्य विकास आयुक्त होता है जो प्रशासनिक प्रधान होता है।

जिला स्तर पर जिले में कार्यक्रम लागू करने का उत्तरदायित्व वैधानिक जिला परिषदों का होता है। खण्ड विकास अधिकारियों की सहायता से यह परिषद कार्यक्रमों को व्यावहारिक रूप देती है।

खण्ड स्तर पर पंचायत समिति इस कार्यक्रम की प्रभारक या इंचार्ज होती है। इस समिति के सदस्य चुने हुए सरपंच (ग्रामीण पंचायतों के अध्यक्ष) होते हैं, और कुछ महिला एवं पिछड़े वर्गों के प्रतिनिधि भी सहयोगी सदस्य बनाए जाते हैं। इस समिति के निर्देशन में खंड विकास अधिकारी और 18 विस्तार अधिकारी (जो कृषि, सहकारिता, पशु-पालन में सिद्धहस्त होते हैं) कार्य करते हैं। युवक संघ, किसान संगठन, महिला मण्डल जैसे स्वैच्छिक संगठन पंचायत के कार्यों में संबंधित क्षेत्रों में सहयोग प्रदान करते हैं।

ग्रामीण स्तर पर दो एजेंसियाँ काम करती हैं—(1) पंचायत, जो समूचे कार्यक्रम का नियन्त्रण करती हैं और (2) ग्राम सेवक, जो एक बहूद्देश्यीय एजेंट का कार्य करता है और जिसके कार्यक्षेत्र में 10 गाँव होते हैं।

संगठित सरकारी प्रशासन के अतिरिक्त गैर-सरकारी भागेदारी को बढ़ावा देने पर जोर दिया जाता है। प्रायः इसे जनता का कार्यक्रम भी कहा जाता है। लोगों का सहयोग

कार्यक्रम लागू करने के साथ ही योजना बनाने के लिए प्राप्त किया जाता है। ग्रामीणों का सहयोग प्राप्त करने के लिए स्थानीय और गैर-सरकारी संगठनों की भी सेवाएँ प्राप्त की जाती हैं।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम का आलोचनात्मक मूल्यांकन

सामुदायिक विकास कार्यक्रम के प्रति अनेक आरोप-प्रत्यारोप लगाए गए हैं। यदि कुछ इसे ग्रामीण बुराइयों को दूर करने का एक मात्र उपाय मानते हैं, तो दूसरे वर्ग का आरोप है कि सामुदायिक विकास विभाग में तो वृद्धि हो गई है परन्तु समुदाय का विकास नहीं हुआ है।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम की सफलता को दो शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है—सामान्य लाभ तथा विशेष लाभ।

जहाँ तक सामान्य लाभ का प्रश्न है, एक ऐसी संस्था की स्थापना की गई है जिसके द्वारा सरकार ग्रामीण जनसंख्या के जीवन के हर पहलू को छू सकती है। जनसाधारण को विकास कार्यक्रम में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है और तकनीकविद को जनसाधारण के प्रतिनिधियों के साथ कार्य करने को कहा जाता है। जहाँ तक विशेष लाभों का प्रश्न है, अच्छे बीज, अच्छे औजार, रासायनिक खाद आदि की मात्रा में काफी वृद्धि हुई है। इसी प्रकार गाँव में स्वास्थ्य, शिक्षा तथा सफाई में भी काफी उन्नति हुई है।

इस कार्यक्रम के मूल्यांकन करने का अपेक्षाकृत उत्तम तरीका यही होगा कि यह देखा जाए कि ग्रामीण विकास के लिए उपयोगी परिवर्तनशील घटकों में किस सीमा तक वृद्धि हुई है। इनमें कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य हैं:—

(अ) विक्रय योग्य कृषि उत्पाद की मात्रा में वृद्धि।

(ब) विकास के लिए पूँजी निर्माण की मात्रा एवं दर में वृद्धि।

(स) कृषि और संबंधित औद्योगिक क्रियाओं के लिए विकसित एवं नई तकनीक में वृद्धि।

उपर्युक्त घटकों की विस्तृत व्याख्या निम्न प्रकार है—

(अ) **कृषि उत्पादन में वृद्धि**—सामुदायिक विकास कार्यक्रम का महत्त्वपूर्ण कार्य है, कृषि उत्पादन में वृद्धि करना और विक्रय योग्य उत्पादन की मात्रा अधिक उपलब्ध कराना। समय-समय पर इसी बात पर जोर दिया गया है कि कृषि आधिक्य से अन्य क्षेत्रों में विकास के लिए पूँजी निर्माण को बढ़ावा मिलता है। कृषि आधिक्य भी अन्य अनेक आर्थिक, सामाजिक घटकों पर निर्भर होता है, जैसे—उत्पादकता, बाजार का नजदीक होना, न्यूनतम मूल्य,

उपभोग का स्तर आदि। इन सभी के अतिरिक्त किसान की संपन्नता और विस्तार कार्यक्रम की सफलता इसी बात से मालूम हो जाती है कि पुरानी कड़ियों के बंधन से मुक्त होकर ग्रामीण ने अधिकतम उपलब्ध विक्रय योग्य आधिक्य में वृद्धि की है या नहीं।

कृषि उत्पादकता में वृद्धि अनेक घटकों का परिणाम होती है। लेकिन दुर्भाग्यवश सामुदायिक विकास कार्यक्रम इन्हें प्रदान करने में असफल रहा है। खाद का प्रयोग अभी बहुत कम किया जाता है यद्यपि रासायनिक खाद अपेक्षाकृत सस्ती दर पर उपलब्ध है। उन्नत बीजों के प्रयोग में वृद्धि अवश्य हुई है। परन्तु क्षेत्र की दृष्टि से यह बिल्कुल नगण्य है। सिंचाई सुविधाओं के लिए सामुदायिक विकास कार्यक्रम कोई भी सक्रिय कार्य नहीं कर पाया है। इसी प्रकार कीड़े, कृषि रोग निरोधक आदि के लिए कुछ भी कार्य नहीं हो सके हैं। जहाँ तक प्रदर्शक खेतों का प्रश्न है उनसे प्राप्त परिणाम भी संतोषजनक नहीं रहे हैं। उन्नत कृषि यंत्रों का प्रयोग क्रमशः बढ़ता जा रहा है।

सन् 1961 में सामुदायिक विकास के वार्षिक सम्मेलन में बोलते हुए श्रीकृष्णमाचारी ने हैदराबाद में कहा था कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम के लाभों का समान वितरण न होने के तीन प्रमुख कारण हैं :

1. बड़ी, मध्यम और छोटी सिंचाई योजनाएँ एवं कार्यक्रम
2. जंगल काटना, भूमि कटाव और भवन निर्माण
3. उत्पादन कार्य अपेक्षाकृत अधिक क्षमतापूर्ण ढंग से नहीं किया गया है। लेकिन विक्रय योग्य आधिक्य में वृद्धि अवश्य हुई है।

(ब) पूँजी संकलन की मात्रा एवं दर में वृद्धि और विकास संरचना का निर्माण—सामुदायिक विकास कार्यक्रम से यह आशा की गई थी कि ग्रामीण क्षेत्रों में अनेक लोगों के हित की दृष्टि से पूँजी संकलन को बढ़ावा दिया जाएगा। यह पूँजी संकलन सहकारी साख सुविधा, उपलब्ध ग्रामीण बेरोजगारी का अधिकतम प्रयोग, ग्रामीणों में छोटी बचत करने की आदत और कुटीर उद्योगों के प्रति झुकाव में वृद्धि से संभव हो सकेगा। लेकिन इस कार्यक्रम से वास्तव में कोई भी विशेष परिवर्तन संभव नहीं हो सका है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की रिपोर्ट में भी यह ठीक ही बतलाया गया है कि इस कार्यक्रम के अंतर्गत किए गए विनियोजन का अधिक झुकाव सामाजिक पूँजी में वृद्धि करना रहा है जिसके अन्तर्गत सड़कें, कुएँ, स्कूल, अस्पताल, स्वास्थ्य सेवाएँ, मनोरंजन केन्द्र, खाई गड्ढे एवं किनारे बनाना शामिल है। परन्तु कृषि विकास पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है जिससे कि शहरों के पास गाँवों की संरचना से अधिक लाभ प्राप्त हो सकें।

ग्रामीण क्षेत्रों में पूंजी में वृद्धि का उपयोग गृह निर्माण के लिए सामाजिक कारणों से अधिक हुआ है, न कि आर्थिक आधारों पर। कृषि बीज बोने के क्षेत्र की तुलना में विकसित

मशीनों और साज-सामान के प्रयोग में वृद्धि नहीं हुई है। कृषि पूँजी निर्माण में कमी होने का प्रमुख कारण साख सुविधाओं की कमी और उपलब्ध कोषों का अनुत्पादक कार्यों के लिए प्रयोग करना रहा है।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम द्वारा कृषि पूंजी निर्माण में वृद्धि न होने के दो प्रमुख कारण हैं --

1. *ग्रामीण क्षेत्रों में बढ़ती हुई आय का प्रयोग बड़े परिवारों और रहन-सहन की बढ़ती हुई लागत में ही हो जाता है।*
2. तत्कालीन भौतिक आकांक्षाओं की संतुष्टि में अतिरिक्त आय का प्रयोग कर दिया जाता है।

पूंजी संकलन की प्रेरणा लाभदायक सिद्ध नहीं हो सकी है। इस प्रकार समाज में न्यून बचत अनुपात के स्थान पर उच्च बचत अनुपात की आवश्यकता है चूँकि सामुदायिक विकास कार्यक्रम प्राथमिक रूप से कृषि से संबंधित हैं, अतः औद्योगिक संरचना कार्यों के लिए पूँजी निर्माण की ओर ध्यान भी नहीं दिया गया है।

(स) **संबद्ध औद्योगिक क्रियाएँ**---ग्रामीण क्षेत्रों की छोटी आधुनिक औद्योगिक इकाइयों को बड़ी औद्योगिक इकाई के प्रति संपुष्टि के रूप में ग्रामीण विकास के लिए लगाया जा सकता है। इनसे ग्रामीणों को अतिरिक्त आय के अलावा आधुनिक अर्थव्यवस्था में विकास विधि का भी अनुमान हो सकेगा। इसके फलस्वरूप शहरी और ग्रामीणों में अनावश्यक अन्तराल या खाई को भी कम किया जा सकेगा।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम की अन्य कमियाँ या दोष

1. कार्यक्रम के लाभों का असमान वितरण।
2. निश्चित पारिभाषिक प्राथमिकताओं की कार्यक्रम में कमी।
3. सामान्य जनता का यह कार्यक्रम नहीं बन पाया है।
4. विस्तार कार्यकर्त्ता गाँवों में खंड स्तर पर सहायक होने के स्थान पर अपनी अनभिज्ञता और असमान विचारों का परिचय देते हैं।
5. भौतिक प्राप्तियों के स्थान पर कोषों को खर्च करना ही प्रमुख उद्देश्य रहा है।
6. औपचारिक उद्घाटन या संस्करण ही खंड कार्यकर्त्ता का प्रारम्भिक और अन्तिम लक्ष्य रहा है।
7. कार्य संबंधी उत्तरदायित्वों में कमी।

सुधार हेतु प्रयत्न

यदि सामुदायिक विकास कार्यक्रम को सफल बनाना है तो सभी कृषकों के लिए नई तकनीक ग्रहण करने की उत्सुकता में वृद्धि की जानी चाहिए। इसके लिए निम्न प्रयत्न किए जा सकते हैं—

1. गाँव स्तर पर कार्यकर्त्ताओं को और अधिक प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। आवश्यकतानुसार उन्नत बीज, खाद, कृषि यंत्र, कीटनाशक दवाएँ, सिंचाई सुविधाएँ और उचित समय पर तकनीकी जानकारी प्रदान करने से कृषि उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है।
2. कार्यक्रम द्वारा सरकारी समिति की शृंखलाओं में वृद्धि की जानी चाहिए, जिससे कि किसान पर्याप्त साख सुविधाओं के आधार पर तकनीकी ज्ञान का समुचित प्रयोग कर सकें।
3. पंचायती राज संगठन को खंड अधिकारियों की नीति एवं कार्यक्रम निर्धारण और लागू करने में सहायता देने के लिए उत्तरदायी बनाया जा सकता है।
4. ऊपर से प्राप्त आदेश मात्र सलाह या मार्गदर्शन के रूप में दिए जाने चाहिए। खंड स्तर पर मार्गदर्शन के आधार पर कार्यक्रम की रूपरेखा बनाने की स्वतंत्रता होनी चाहिए।
5. ग्रामीणों को समस्त कार्यक्रम की पूर्ण जानकारी होनी चाहिए और इसे स्वीकार करने के प्रति उनकी इच्छा जागृत की जानी चाहिए।
6. विशेषज्ञों और विस्तार कार्यकर्ताओं के लिए गहन प्रशिक्षण कार्यक्रम बनाए जाएँ और प्रभावशाली ढंग से लागू किए जाएँ, जिससे कि ग्रामीण क्षेत्रों में ये लोग उत्तरदायित्व एवं पूरी कार्यक्षमता से कार्य कर सकें।
7. सामुदायिक विकास कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए जनसाधारण शिक्षा अति आवश्यक है। भारत में सामुदायिक विकास कार्यक्रम को बढ़ावा देने के लिए ठीक ढंग के प्रशिक्षण तथा ग्रामीण जनता के स्वभाव को बदलने की भी जरूरत है।

पंचायती राज

लोगों की भागेदारी के आधार पर ग्रामीण विकास और सुधार के लिए सामुदायिक विकास कार्यक्रम का महत्त्व पहले ही समझाया जा चुका है। लोगों की भागेदारी के लिए मात्र कहना ही पर्याप्त नहीं होता है, बल्कि ग्रामीण विकास के कार्यक्रमों में उचित रूप से उन्हें शामिल करना अधिक आवश्यक है। अत: इस बात की आवश्यकता महसूस हुई कि एक ऐसी कार्यप्रणाली की खोज की जाए जिसमें राष्ट्र निर्माण के लिए प्रजातंत्र सही अर्थों में कार्य कर सके। श्री एस०के०डे ने सही कहा है —

"भय और प्रजातंत्र एक साथ नहीं चल सकते । प्रजातंत्र जो दूर बैठे हुए सरकारी कर्मचारियों द्वारा प्रशासित होता है कुछ लोगों के लिए आरामदायक हो सकता है, लेकिन एक पिछड़ी अर्थव्यवस्था इस प्रकार की विलासिता को सहन नहीं कर सकती है ।"

श्री बलवन्तराय मेहता की अध्यक्षता में गठित अध्ययन दल ने जाँच करने के पश्चात यह बतलाया कि गाँव, खंड और जिला स्तर पर प्रजातंत्रीय विकेन्द्रीकरण से सामुदायिक विकास कार्यक्रम की उन्नति हो सकती है । "प्रजातंत्रीय विकेन्द्रीकरण" शब्द के स्थान पर "पंचायती राज" शब्द को प्रयुक्त किया गया । बलवन्तराय मेहता समिति ने विकेन्द्रीकरण के लिए तीन सूत्री कार्यक्रम प्रस्तावित किया । प्रत्येक गाँव स्तर पर ग्राम पंचायतें, खंड स्तर पर पंचायत समितियाँ और उच्च स्तर पर जिला स्तरीय जिला परिषदें गठन करने का सुझाव दिया । फलस्वरूप ग्राम पंचायतों की स्थापना राज्य सरकारों द्वारा की गई है । लगभग सभी राज्य सरकारों ने कानून बनाकर ग्राम पंचायतों की स्थापना की है । विभिन्न राज्यों में संगठन और संरचना की दृष्टि से कुछ अन्तर अवश्य पाए जाते हैं परन्तु कार्यों की दृष्टि से लगभग समानता पाई जाती है ।

इस समय 2,21,063 ग्राम पंचायतें हैं, जिनमें 98% ग्रामीण जन-संख्या शामिल है । 4023 पंचायत समितियाँ और 243 जिला परिषदें हैं ।

ग्राम पंचायत के संगठन का स्वरूप (ढांचा)

ग्राम पंचायत के संगठन का स्वरूप विभिन्न राज्यों में अलग-अलग है । अनेक राज्यों में *गाँव सभाएँ या ग्राम सभाएँ स्थापित की गई हैं*, जो प्रत्येक *गाँव या 1000 की जनसंख्या* का प्रतिनिधित्व करती हैं । यदि किसी गाँव के पाँच कि०मी० के व्यास में कोई ग्राम सभा नहीं है और उस गाँव की जनसंख्या 1000 से कम है तो वहाँ भी एक ग्राम सभा स्थापित कर दी जाती है । यदि दो गाँव पास-पास हैं, तो 5000 की जनसंख्या तक एक ही ग्राम सभा रखी जाती है ।

ग्रामीण संस्थाओं का चुनाव प्रत्यक्ष और बालिग मताधिकार के आधार पर किया जाता है । ग्राम पंचायत, ग्राम सभा की कार्यकारिणी है । इसमें सदस्यों की संख्या 30 से 51 तक होती है । अनुसूचित जाति और अल्पसंख्यकों के लिए स्थानों का आरक्षण किया जाता है । प्रत्येक क्षेत्र में आरक्षित स्थानों की संख्या वहाँ की जनसंख्या पर निर्भर करती है ।

ग्राम पंचायतों के कार्य

1. **अनिवार्य कार्य**---नालियों, प्रकाश, चिकित्सा सुविधा का प्रबंध । बीमारी या महामारी फैलने पर निरोधक एवं उपचार के उपाय । सार्वजनिक शौचालयों का निर्माण और

रख-रखाव । मृत्यु और जन्म का लेखाजोखा, मेलों का आयोजन, सामान्य चरागाह भूमि की व्यवस्था एवं पानी की आपूर्ति । श्मशान घाट बनाना और उसकी व्यवस्था, सामान्य सड़कों को बनाना और उनका रख-रखाव ।

2. **वैकल्पिक या स्वैच्छिक कार्य**—पेड़-पौधे लगाना, चौपायों की नस्ल में सुधार, ग्रामीण स्वयं सेवकों का चौकीदारी के लिए संगठन, कुटीर उद्योगों में सुधार, अकाल से सुरक्षा । धर्मशाला, कुएँ, तालाब और मोरियाँ बनवाना । स्वास्थ्य सेवाएँ, पशु एवं मनुष्य चिकित्सा सेवाएँ, पुस्तकालय एवं वाचनालय का प्रबंध, ग्रामीण जंगलों की देखभाल, अस्वास्थ्यकर गड्ढे या स्थानों को भरना । कई राज्य सरकारें कभी-कभी भू-लगान आदि की वसूली का कार्य भी पंचायतों को सौंप देती हैं ।

3. **आर्थिक कार्य**—उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त कुछ ग्राम पंचायतें भूमि-सुधार, सहकारिता में वृद्धि, चकबन्दी, महत्त्वपूर्ण आँकड़ों को एकत्रित करना; और भूमि विकास जैसे महत्त्वपूर्ण आर्थिक कार्य भी करती हैं ।

4. **न्यायिक कार्य या न्याय पंचायतें**—कुछ ग्राम पंचायतों को न्यायिक अधिकार भी प्रदान कर दिए गए हैं । इनके पास रुपये के लेन-देन के झगड़े, चल संपत्ति और इसके मूल्य संबंधी विवाद लाए जा सकते हैं । मात्र जुर्माना करने तक का अधिकार इन पंचायतों को दिया गया है जिससे कि छोटे-छोटे विवादों का शीघ्र निपटारा हो सके ।

पंचायतों की वित्तीय व्यवस्था

प्रत्येक ग्राम पंचायत के पास एक ग्रामीण पंचायत कोष होता है, जिसमें सामान्य और विशेष अनुदान, आवंटन तथा म्यूनिसिपल बोर्ड, स्थानीय सरकार, राज्य और केन्द्र सरकारों से प्राप्त अनुदान को रखा जाता है । ग्राम पंचायतें अपने साधन निम्न पाँच स्रोतों से प्राप्त करती हैं—

1. **कर**— पंचायतों द्वारा कानूनों के अनुसार कई प्रकार के कर लगाए जाते हैं । इनमें कुछ अनिवार्य और कुछ स्वैच्छिक होते हैं जिसमें गृह कर, व्यावसायिक कर, गाड़ी कर एवं पशु कर शामिल है ।

2. **विभिन्न प्रकार के शुल्क**— पंचायतों द्वारा विभिन्न प्रकार के शुल्क लिए जाते हैं । इनको निम्न ढंग से वर्गीकृत किया जा सकता है—(क) सेवाओं के बदले में शुल्क, जैसे— पानी, नालियों, गलियों में प्रकाश आदि का प्रबन्ध करना, (ख) लाइसेंस फीस जो पशुओं की बिक्री के रजिस्ट्रेशन पर, खाल एवं चमड़ों को एकत्रित करने पर, चाय की दुकान आदि पर ली जाती

है, (ग) जुर्माना जो लाइसेंस न लेने पर, अनधिकृत स्थान को कब्जाने आदि पर लगाया जाता है।

3. **सामान्य आय**—मछली पालन, मेले, बाजार, हाट, घास की बिक्री, पेड़ों के गिरने की आय, मरे पशु और कूड़ा डालने के स्थान की सफाई का शुल्क, सार्वजनिक सेवाओं के लिए श्रमदान के रूप में आय, सरकारी या सार्वजनिक भूमि से प्राप्त आय इसमें शामिल की जाती हैं।

4. **विविध**—इस मद के अन्तर्गत जमा राशि पर ब्याज, सरकारी सहायता, स्टाम्प शुल्क, पुराने सामान की बिक्री, किराया, भूमि से उत्पादित सामग्री, ऋण और अग्रिम राशियाँ एवं जिला बोर्ड से अनुबंधित आय शामिल हैं।

पंचायती राज का आलोचनात्मक मूल्यांकन

पंचायती राज संस्थाएँ अनेक कार्यों में व्यस्त रहती हैं जैसे—कृषि के लिए कच्चे माल एवं संयंत्रों का आयोजन करना, जलाशयों का बनाना, छोटे सिंचाई कार्यों आदि को सम्पूर्ण करना, स्कूल एवं प्राथमिक चिकित्सा केन्द्रों की स्थापना करना, सड़कें बनाना, पीने के पानी का प्रबन्ध करना आदि। उत्तरदायित्व, सरकार से हटाकर नागरिकों को ही दे दिया जाता है। पंचायती राज के द्वारा ही योग्य तथा आत्मनिर्भर बनना, सामाजिक दायित्व को समझना, पहल करने की प्रवृत्ति जैसे गुणों को ग्रामीण जनता में सँजोया जा सकता है। इस प्रकार पंचायती राज के द्वारा सभी को समान व्यवहार प्राप्त होता है और एक उचित और न्यायशील सामाजिक व्यवस्था की स्थापना होती है।

अनेक अध्ययनों और समीक्षाओं में यह नहीं कहा गया है कि पंचायती राज प्रणाली असफल रही है, बल्कि यही कहा गया है कि कुछ और अधिक किया जा सकता है।

पंचायती राज प्रणाली की कमियाँ

पंचायती राज प्रणाली के संगठन एवं संचालन मे कुछ कमियाँ पाई जाती हैं, जो निम्न हैं—

1. गाँवों में कुछ विरोधी तत्व संगठित होते हैं, जो सामान्य हितों की बातों में भी स्वीकृति नहीं देते और कार्यों को लगभग असंभव बना देते हैं।
2. उचित नेतृत्व की कमी के फलस्वरूप, गैर-जिम्मेदार व्यक्तियों के हाथों में पंचायतें मात्र साधन या यंत्र बनकर रह जाती हैं।
3. राजनैतिक हस्तक्षेप के फलस्वरूप शिक्षित एवं योग्य व्यक्ति पंचायतों के कार्यों को सक्षम ढंग से करने के लिए आगे नहीं आ पाते।

4. विकास लाभों का समान बँटवारा ग्रामीण जनता में नहीं हो पाया है। गाँव के समर्थ, धनी और उच्च वर्ग के लोगों द्वारा इसका अधिक लाभ पूर्ववत स्थिति में है।
5. बड़े भूमिपति और ऋण दाताओं का इन पंचायतों पर अभी भी आधिपत्य बना हुआ है और सामान्य कृषक वर्ग का विकास इन पंचायतों द्वारा नहीं हो पाता है।
6. शिक्षा, प्रशिक्षण तथा गाँवों में प्रदर्शन आदि की कमी पंचायती राज की मुख्य बाधाएँ समझी जाती हैं।

सुधार के लिए सुझाव

पंचायतों को अधिक उपयोगी एवं प्रभावी बनाने के लिए जनता का प्रभावशाली नियंत्रण उनके प्रतिनिधियों के माध्यम से होना चाहिए, इसके लिए यह आवश्यक है कि--

1. पचायतों का चुनाव नियमित रूप से होना चाहिए।
2. ऐसे व्यक्तियों को भी पंचायत समितियों का सदस्य बनाया जा सकता है जो प्रत्यक्ष रूप से ग्रामीण स्तर पर योजनाओं के बनाने तथा इनको लागू करने के कार्य से संबंधित न हों।
3. पंचायत समिति के प्रत्येक सदस्य को 5 वर्ष के पश्चात 15-20 दिन के प्रशिक्षण कार्य के लिए अवश्य भेजा जाना चाहिए। यह प्रशिक्षण कार्यक्रम कृषि, पशुपालन, सहकारिता, सामान्य स्वास्थ्य, प्रारम्भिक सार्वजनिक शासन आदि के लिए हो सकता है।
4. सप्ताह या पन्द्रह दिन में गाँव के वृद्धों की एक अनौपचारिक सभा बुलाई जाने को प्रोत्साहित किया जा सकता है, जिससे ग्राम पंचायत के सदस्य और बुजुर्ग लोग गाँव की समस्याओं पर विचार विमर्श कर सकें। इस प्रकार पंचायत के सदस्य और ग्रामीण एक-दूसरे की समस्याओं को समझ सकेंगे और पंचायत के निर्णयों का अधिक प्रभावी परिणाम हो सकेगा।

अध्याय 9

ग्रामीण औद्योगीकरण एवं रोज़गार

ग्रामीण उद्योगों की महत्ता कृषि प्रधान और आर्थिक समस्याओं से ग्रसित देशों के लिए और भी अधिक है। ग्रामीण अर्थव्यवस्था में पुनर्विकास और ग्रामीण जीवन में आनन्द लाने के लिए इन उद्योगों का विकास अति आवश्यक है।

विस्तृत अर्थों में ग्रामीण उद्योगों में उन सभी उद्योगों को शामिल किया जा सकता है जो ग्रामीणों द्वारा आंशिक या पूर्णकालिक व्यवसाय के रूप में किए जाते हैं। ये उद्योग जाति-गत अथवा परम्परागत उद्योग के रूप में हो सकते हैं। अत्यन्त ही अल्प पूँजी विनियोग से स्थानीय सामग्री और योग्यता द्वारा ही मोटे रूप से इन्हें चलाया जाता है और श्रमिकों को मजदूरी पर रखा जाता है। आवश्यक रूप से ग्रामीण उद्योग गाँवों में ही स्थापित किए जाते हैं।

ग्रामीण उद्योगों का महत्त्व

भारत में इसी तथ्य से ग्रामीण उद्योगों के महत्त्व को जाना जा सकता है कि पिछले कुछ समय से शहरीकरण का तीव्र विकास होने के बावजूद जनसंख्या का एक बड़ा भाग गाँवों में ही रहता है और अभी भी भारतीय अर्थव्यवस्था कृषि प्रधान है। पर्याप्त मात्रा में सिंचाई, खाद और विस्तार कार्यक्रमों को लागू करने पर भी, भारतीय कृषि व्यवसाय केवल मौसमी है और जरूरत से ज्यादा लोग इसमें कार्य करते हैं। फलस्वरूप हमारी कृषि अर्द्ध-बेरोजगारी और अल्प-रोज़गार के दुष्चक्र से बच नहीं पाई है।

ग्रामीण उद्योगों का सबसे महत्त्वपूर्ण लाभ यही है कि प्राकृतिक रूप से श्रमिक को अपने ही वातावरण में रोज़गार मिल जाता है और भौतिक एवं चारित्रिक संतोष भी प्राप्त होता है। उनकी सामर्थ्य, इच्छा और रुचि के अनुरूप और व्यक्तिगत योग्यता एवं प्रवृत्ति के अनुसार व्यवसाय चलाने की संभावना भी बन जाती है। गाँवों में रोजगार के लिए कुटीर उद्योगों को बढ़ावा देने का एक प्रमुख कारण यह भी है कि कृषि पूरे वर्ष पूर्ण रोजगार प्रदान नहीं कर सकती है, फिर भी फसल बोने, काटने, रोपने और अन्य सामयिक कार्यों के लिए अल्पकालीन

आधार पर अतिरिक्त श्रमिकों की आवश्यकता पड़ती है। आगे आने वाले अनेक वर्षों के लिए कृषि का यंत्रीकरण एक व्यावहारिक-संभावना या विचार उचित प्रतीत नहीं होता है। अत: कृषि की अतिरिक्त श्रम की मौसमी माँग को ध्यान में रखकर ग्रामीण समुदाय को गाँव में रखना ही उचित है। कच्चा माल, स्थानीय योग्यता और उद्योग की स्थानीय आवश्यकता के अनुरूप भारत के विभिन्न क्षेत्रों में चुने हुए ग्रामीण उद्योगों को विकसित एवं प्रोत्साहित करनेकी आवश्यकता है। ये उद्योग अनेक प्रकार से ग्रामीण कल्याण में सहायता प्रदान कर सकते हैं—

1. इनसे अर्द्ध/अल्प रोजगार एवं बेरोजगारी में कमी आ जाएगी।
2. अनेक प्रकार का ऐसा कच्चा माल भी प्रयोग में लाया जा सकेगा, जिसे यातायात की उच्च लागत के फलस्वरूप शहरी स्थानों पर नहीं भेजा जा सकता। ऐसा माल राष्ट्रीय संपत्ति में परिवर्तित किया जा सकेगा।
3. किसान और उसके परिवार के लिए एक अतिरिक्त आय का साधन पनप सकेगा जिसका प्रयोग वह अपने जीवन स्तर को उन्नत करने और आकस्मिक कृषि फसल खराब होने पर कठिनाई के दिनों में प्रयोग कर सकेगा।
4. विदेशी बाजारों में ग्रामीण औद्योगिक वस्तुओं की बहुत माँग है।
5. ग्रामीण उद्योगों के उत्पाद में अधिक पूँजी विनियोजन की भी आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि स्थानीय कच्चा माल और योग्यता का अधिक प्रयोग किया जाता है।
6. कृषि में किसान द्वारा ही खेती करने के अनुरूप, प्रजातंत्र और समाजवादी ढाँचे की आधारशिला अधिक मजबूत ग्रामीण उद्योगों से ही संभव है।
7. अपनेपन का वातावरण पैदा करने के लिए स्थानीय योग्यता, क्षमता, लगन और रुचि का विकास ग्रामीण उद्योगों द्वारा प्राप्त अवसरों से ही संभव है।
8. श्रमिक को एक दिन में लगभग 2500 कैलोरीज की आवश्यकता पड़ती है। दुर्भाग्यवश, भारतीय ग्रामीण को आवश्यक कैलोरीज तो क्या आवश्यक प्रोटीन और विटामिन भी नहीं मिल पाते। कुछ ग्रामीण उद्योगों से खाद्य मूल्यों का लाभ भी ग्रामीण समुदाय को प्राप्त हो सकता है। उदाहरणस्वरूप—पालिश किए हुए चावल में फासफोरस की मात्रा समाप्त हो जाती है, जबकि हाथों से कुटे हुए चावलों में यह पर्याप्त मात्रा में मिल सकती है।

ग्रामीण उद्योग कार्यक्रम

सन् 1962 में योजना आयोग द्वारा छोटे शहरी केन्द्रों और ग्रामीण क्षेत्रों में ग्रामीण उद्योगों की विचारधारा विकसित करने के कार्यक्रम की शुरुआत की गई। इस बात की

संभावना महसूस की गई कि शहरी केन्द्रों में जोड़ने/एकत्र करने के उद्योगों के लिए छोटे पुर्जे का सामान बनाने वाली ग्रामीण औद्योगिक इकाइयों को सम्मिलित कर दिया जाए। इसके अतिरिक्त, ग्रामीण क्षेत्रों में छोटी इकाइयों से अनेक सेवित वर्ग और कलाकारी द्वारा छोटे शहरी केन्द्रों को सेवा सुविधाएँ भी प्रदान की जा सकती हैं। बाद में इस विचार में आवश्यक सुधार करके इस बात पर भी जोर दिया गया कि संतुलित ग्रामीण विकास के लिए प्रयत्नों को गति दी जाए। अभी आधुनिक मशीनों से मध्यम और छोटे पैमाने के उद्योगों को पूर्ण इकाई के रूप में ग्रामों में स्थापित करने पर भी व्यावहारिक प्रयत्न किए जा रहे हैं।

जरूरतमंद क्षेत्रों में यदि ग्रामीण उद्योग कार्यक्रमों को सही रूप से प्रतिपादित किया जाए तो ग्रामीण अर्थव्यवस्था को आवश्यक सहायता और जीवन प्राप्त हो सकेगा और अप्रत्यक्ष रूप से ग्रामीणों का शहरों के प्रति आकर्षण भी कम हो जाएगा। इस बात को अवश्य ध्यान में रखा जाना चाहिए कि ग्रामीण औद्योगिक कार्यक्रम में अनेक छोटे कारखानों की स्थापना आवश्यक रूप से अनेक गाँवों में होगी। अतः इसके क्षमतापूर्ण संगठन के प्रति विशेष सतर्कता रखी जाए। प्रमुख ध्यान इसकी कार्यक्षमता एवं गहनता के प्रति दिया जाना चाहिए, जिससे कि प्रभावशाली ढंग से कार्यक्रम को लागू किया जा सके। कार्यक्रम खण्ड स्तर पर लागू किए जाएँ, तथा अधिक सहयोग और समन्वय उद्देश्यों के लिए ग्रामीण उद्योगों का उत्तर-दायित्व जिला परिषदों का हो। सन् 1971-72 में भारत सरकार ने तीन वर्षों के लिए 150 करोड़ रुपये की राशि रखकर तीव्र कार्यक्रम प्रारंभ किया जिसमें ग्रामीण क्षेत्रों में अल्प बेरोज़-गारी को समाप्त करने के लिए व्यवस्था की गई थी। इस कार्यक्रम को विशेष रूप से उन क्षेत्रों में लागू किया जाना है, जिनमें छोटे किसान, मध्यम किसान और ग्रामीण कृषक के लिए रोज़गार के अवसर प्रदान करने की योजना नहीं है। इस योजना में 50 करोड़ रुपये प्रतिवर्ष खर्च करने की व्यवस्था है। इस कार्यक्रम से दो उद्देश्यों की पूर्ति हो सकती है—प्रथम प्रत्येक जिले में लगभग 1000 श्रमिकों को औसतन 10 महीने के लिए कार्य करने के मौसम में रोज़गार मिल सकेगा। दूसरे, प्रत्येक परियोजना से दीर्घकालीन प्रकृति का कार्य भी संभव हो सकेगा। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत 1973-74 में 42.3 करोड़ रुपये व्यय किए गए और 1025 लाख मानव दिवस रोज़गार का प्रावधान किया गया। यह सड़क बनाना, बाढ़ रोकना आदि कार्यों से सम्बन्धित था।

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में ग्रामीण उद्योगों के महत्त्व की जानकारी प्राप्त करने के पश्चात् कुछ प्रमुख ग्रामीण उद्योगों का अध्ययन किया जा सकता है—

खादी उद्योग

हमारे देश के इतिहास की तरह खादी उद्योग भी बहुत प्राचीन है। हड़प्पा और मोहन-जोदड़ों के प्राचीन अवशेषों की खोज से यही पता चलता है कि तत्कालीन प्रत्येक घर में चर्खा

अवश्य होता था। कपड़े की मिलों की स्थापना से खादी उद्योग की बहुत अवनति हुई है। स्वर्गीय महात्मा गाँधी के स्वदेशी आन्दोलन से खादी को फिर से जीवन प्राप्त हुआ था। सन् 1925 में संगठित चर्खा संघ का प्रमुख उद्देश्य ही अधिक से अधिक ग्रामीणों को रोजगार प्रदान करना था। द्वितीय महायुद्ध काल में कपड़े की कमी के फलस्वरूप इस उद्योग को फिर से जीवनदान मिला और चर्खा ग्रामीण जीवन का आवश्यक अंग बन गया।

खादी कार्यक्रम का प्रमुख उद्देश्य वस्त्र स्वावलंबन (अर्थात् स्वयं के उपभोग के लिए वस्त्र उत्पादन) है। महात्मा गाँधी ने स्पष्ट रूप से कहा है कि इस कार्यक्रम की सफलता शहरों में उत्पादन या विक्रय के आँकड़ों से और खादी पहनने वाले लोगों की संख्या से नहीं नापी जानी चाहिए, बल्कि उन स्त्री-पुरुषों की संख्या से नापी जानी चाहिए जो अपने लिए कपड़ा बनाना सीख गए हैं और स्वयं के ही प्रयत्नों से अहिंसा और स्वावलंबन के प्रति विचारों में स्पष्टता ला सके हैं।

सन् 1968-69 में खादी का उत्पादन 35840 लाख मीटर था जो 1972-73 में बढ़कर 38300 लाख मीटर हो गया लेकिन 1973-74 में खादी उत्पादन 36500 लाख मीटर था।

गुड़ एवं खांडसारी उद्योग

चीनी उत्पादन करने वाले देशों में भारत का महत्त्वपूर्ण स्थान है और कुल उत्पादन क्षेत्र के 1.8 प्रतिशत भाग में गन्ने की खेती की जाती है। अन्य राज्यों की तुलना में उत्तर प्रदेश में सबसे अधिक गन्ना पैदा होता है। गन्ने का 50 प्रतिशत प्रयोग गुड़ और खांड बनाने में किया जाता है। यद्यपि खादी एवं ग्रामोद्योग बोर्ड (अब आयोग) प्रारंभ से ही इस उद्योग को प्रोत्साहन दे रहा है फिर भी केवल 5 प्रतिशत भाग को ही इसमें शामिल किया जा सका है।

गुड़ और खांडसारी का उत्पादन 1960-61 में 123 हजार टन से बढ़कर 1973-74 में 240 हजार टन हो गया। आयोग ने उन्नत यंत्र देकर इस उद्योग को सहायता देने की कोशिश की है। बैलों से चालित कोल्हुओं के स्थान पर शक्ति से चालित कोल्हू दिए गए हैं, जिससे कि गन्ने से प्राप्त रस 65 से 68 प्रतिशत तक हो गया है। सस्ती एवं उन्नत सफाई की विधियों से खांड की प्राप्ति 75 प्रतिशत तक हो गई है। गुड़ उत्पादन करने वाली इकाइयों को संगठित करके, गन्ना उत्पादकों को प्रशिक्षण देकर और गुड़-संग्रह करने के गोदामों के निर्माण से इस उद्योग का अधिक विकास हो सका है। मौसम के समय इस उद्योग से लगभग 30 लाख लोगों को रोजगार प्राप्त हो जाता है।

चावल

धान से हाथ का कुटा चावल निकालने का उद्योग भारत में बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। इस प्रकार का चावल बहुत गुणकारी होता है। मशीनीकरण के फलस्वरूप

हथकुटे चावल का कार्य 75 प्रतिशत से घटकर 40 प्रतिशत रह गया है। सन् 1960-61 में इसका उत्पादन 57.7 हजार टन से बढ़कर 1973-74 में 80 हजार टन हो गया। 15,000 पूर्णकालीन और 40,000 अल्पकालीन श्रमिकों को इस उद्योग से रोजगार प्राप्त होता है।

विक्रय केन्द्रों की स्थापना और उन्नत संयंत्रों का विकास खादी ग्रामोद्योग आयोग द्वारा किया गया है। गोदामों का निर्माण और काश्तकारों को प्रशिक्षण का कार्यक्रम भी चलाया जा रहा है। ढेंकी, चक्की (बाल बियरिंग) और पंखे आदि भी वितरित किए गए हैं।

ग्रामीण तेल उद्योग

विश्व के महत्वपूर्ण तिलहनों (मूँगफली, सीसेम, तिल, सरसों, अरंडी, कपास और महुआ) के कुल उत्पादन का सातवाँ भाग भारत द्वारा पैदा किया जाता है। गाँव के इस उद्योग को मिलों से सुरक्षा प्रदान करने के लिए खादी ग्रामोद्योग बोर्ड ने (अब आयोग) इस उद्योग का विकास करने का काम अपने हाथ में लिया था। बहुत बड़े पैमाने पर तिलहन बीजों से निकाला गया तेल, खाद्य और अखाद्य उद्देश्यों के लिए प्रयोग में लाया जाता है। 1960-61 में खाद्य तेलों का उत्पादन 59.6 हजार टन से घटकर 1973-74 में 50 हजार टन रह गया। तेल विधि उद्योग और तेल निकालने के काम में 30,000 पूर्णकालीन और 15,000 अल्प-कालीन श्रमिकों को रोजगार, 5,000 सहकारी समितियों के द्वारा चलाई जाने वाली 45,000 तेल घानियों से प्राप्त होता है। आयोग द्वारा विकास कार्यक्रमों के अन्तर्गत तेलियों को तिलहन खरीदने की वित्तीय सुविधाएँ, अच्छी तेल घानी और पंजीकृत विक्रय केन्द्रों के माध्यम से विक्रय व्यवस्थाएँ प्रदान की जाती हैं और सरकारी समितियों को संगठित रखा जाता है।

देश में उपलब्ध अखाद्य तेलों में नीम, महुआ और करंजा शामिल हैं। इस उद्योग से 95,000 लोगों को मौसमी रोजगार प्राप्त होता है। आयोग के कार्यक्रम के अन्तर्गत अखाद्य तिलहनों को सुरक्षित एवं विकसित किया जाता है जिससे वनस्पति तेल उद्योगों को कच्चे माल की पूर्ति की जा सके।

ताड़-गुड़ उद्योग

एक अनुमान के अनुसार देश में 800 लाख ताड़ के पेड़ हैं जिनमें से 80 प्रतिशत ताड़ी के हैं। इस उद्योग से 26 लाख लोगों को अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष रूप से रोजगार प्राप्त होता है। 1973-74 में 700 लाख रुपये मूल्य का 95,000 टन ताड़-गुड़ का उत्पादन हुआ था।

हाथ के बने कागज का उद्योग

प्राचीन काल में पत्र, किताबें, प्रलेख, ताम्रपत्र या भोज पत्र पर लिखे जाते थे। पिछले

वर्षों में चिथड़े काटने, गलाने, घोलने, कागज बनाने, पालिश करने की तकनीक में बहुत सुधार हुए हैं। रद्दी और कपड़ों से कागज बनाया जा सकता है। धान की पायर (छिल्के) और जंगल की मुलायम लकड़ी भी कागज के बनाने में काम आ सकती है। 1960-61 में कागज का उत्पादन 1,927 टन से बढ़कर 1973-74 में 3,000 टन हो गया। लगभग 4000 श्रमिकों को इससे रोजगार प्राप्त होता है। सहकारी समितियों के माध्यम से अब मशीनीकृत हीटर और जापानी तकनीक की सहायता से मोमिया कागज (स्टेंसिल), पैकिंग के लिए कागज और अन्य अच्छी किस्म के कागज का भी ग्रामीण उद्योग स्तर पर उत्पादन होने लगा है।

ग्रामीण चमड़ा उद्योग

इन उद्योगों में जानवर की खाल निकालना, सफाई करना और उसके जूते, चप्पल एवं अन्य उपयोगी उपकरण बनाना शामिल है। लगभग 700 खाल निकालने और इतने ही सफाई करने के केन्द्र भारत में स्थित हैं। 1960-61 में चमड़े के सामान का उत्पादन लगभग 0·36 करोड़ रुपये से बढ़कर सन् 1973-74 में 5 करोड़ रुपये हो गया था।

मधु-मक्खी पालन उद्योग

डॉ० न्यूटन नामक एक अमेरिकन मिशनरी के द्वारा दक्षिण भारत में वैज्ञानिक ढंग से मक्खी पालन सिखाने के बाद ही यह उद्योग भारत में प्रारंभ हुआ है। महात्मा गाँधी ने भी इस उद्योग के विकास में अधिक मदद दी। दक्षिण भारत में ही यह उद्योग अधिक विकसित हुआ है। खादी ग्रामोद्योग आयोग ने 17,000 गाँवों में 2,50,000 मधुमक्खी पालन केन्द्र स्थापित कराए हैं। 1962-63 में 0.56 लाख कि० ग्राम से बढ़कर 1968-69 में शहद का उत्पादन 15 लाख कि० ग्रा० हो गया था।

मिट्टी के बर्तनों का उद्योग

प्राचीन और परम्परागत उद्योगों में इस उद्योग से विभिन्न उत्पादन के अवसर मिलते हैं। वर्ष के 8 महीनों में लगभग 5 लाख परिवारों को इससे रोजगार प्राप्त होता है। आयोग के निर्देशन में 30,000 बर्तन बनाने वाले कार्य कर रहे हैं। इस उद्योग के विकास कार्यक्रमों में, प्रशिक्षण, नई तकनीक, वित्तीय सहायता और कार्य करने के स्थानों और बर्तन पकाने के लिए उत्पादन केन्द्रों की स्थापना शामिल हैं।

रेशम के कीड़े पालने का उद्योग

1949 में स्थापित केन्द्रीय सिल्क बोर्ड, रेशम और रेशम के कीड़े पालने के उद्योग का

कार्य देखता है। कर्नाटक राज्य में यह उद्योग सबसे अधिक विकसित हुआ है और कुल देश के उत्पादन का 50 प्रतिशत यहीं से उपलब्ध होता है। इसके बाद पश्चिमी बंगाल, आसाम, कश्मीर, मध्य प्रदेश और बिहार राज्य आते हैं। इसका उत्पादन 1960-61 में 19 लाख किलोग्राम से बढ़कर 1973-74 में 28 लाख किलोग्राम हो गया था। लगभग 32 लाख लोगों को इस उद्योग से रोजगार प्राप्त होता है।

हस्तकला उद्योग

मूल्यवान और नकली पत्थरों को काटना और तराशना, जवाहरात, कालीन, धातु के बर्तन, हाथ के छपे कपड़े आदि हस्तकला उद्योग से 14 लाख लोगों को रोजगार मिलता है। 1962 में स्थापित *अखिल भारतीय हस्तकला बोर्ड*, हस्तकला की वस्तुओं के उत्पादन और विक्रय के विकास का कार्य देखता है।

ग्रामीण उद्योगों की समस्याएँ

भारतीय ग्रामीण उद्योगों की कुछ प्रमुख समस्याएँ, जो सामान्य रूप से सभी उद्योगों में उठानी पड़ती हैं, निम्न प्रकार हैं—

1. **कच्चे माल की अनियमित आपूर्ति**—ग्रामीण उद्योगों को कच्चे माल की आपूर्ति की कठिनाइयों का सामना विशेष रूप से करना पड़ता है। हस्तकला उद्योग, जो पूरे वर्ष धागे की आपूर्ति पर चल सकता है, में यह कठिनाई हमेशा बनी रहती है। चमड़े कमाने (सफाई) और सामान बनाने वालों को भी नियमित रूप से खालें नहीं मिल पाती हैं। चमड़े का काम करने वालों की प्रमुख शिकायत है कि शहरों में खालें धनी व्यक्तियों द्वारा खरीद ली जाती हैं और वे इसका निर्यात कर देते हैं। फलस्वरूप अच्छी किस्म का माल (खालें) उन्हें नहीं मिल पाता है। इस प्रकार ग्रामीण उद्योगों का उज्ज्वल भविष्य कच्चे माल की नियमित आपूर्ति पर ही निर्भर रहता है।

2. **वित्त की कमी**—ग्रामीण कलाकार कच्चे माल की खरीद, संचालन व्यय और विक्रय के लिए वित्त व्यवस्था न होने पर परेशान रहते हैं। उनके आन्तरिक साधन भी अपर्याप्त होते हैं। ऊँची ब्याज दर पर इनकी आवश्यकताएँ गाँव के महाजनों, साहूकारों और व्यापारियों द्वारा पूरी की जाती हैं। व्यापारिक बैंकों द्वारा इन लोगों को बहुत ही कम वित्त या सुविधा दी जाती है। इस समय अनेक इकाइयों को इसलिए भी धन नहीं मिल पाता है क्योंकि साख, ऋण वापस करने की क्षमता और पुराने ऋणों को चुकाने की क्षमता जैसे बैंकों के नियम बाधा बने रहते हैं। कुछ सीमा तक उच्च सहकारी (औद्योगिक) बैंक और केन्द्रीय सहकारी बैंक से ऋण भुगतान की गारन्टी प्राप्त होने पर ऋण सुविधाएँ अवश्य प्राप्त

हो जाती हैं। लगभग सभी राज्य सरकारों ने कृषि औद्योगिक निगम बना लिए हैं, जो वित्तीय एवं तकनीकी सहायता प्रदान करते हैं।

3. **तकनीकी और योग्यता का अभाव**—ग्रामीण और लघु उद्योगों का तीव्र विकास इसलिए भी रुक जाता है क्योंकि इनमें निम्न स्तर का तकनीकी सहयोग प्राप्त होता है। प्रशिक्षित एवं अनुभवी कर्मचारियों की कमी होती है। अतः कला और उत्पादन विधि में कमी विशेष रूप से हथकरघा, घानी, चमड़ा और बर्तन बनाने के उद्योग को प्रभावित करती हैं। केन्द्रीय लघु उद्योग संगठन द्वारा तकनीकी सलाह और सहायता, संयुक्त कार्य करने के स्थल, उत्पादन केन्द्रों के लिए पर्याप्त और संतोषजनक नहीं है। ग्रामीण क्षेत्रों में तकनीकी योग्यता के विकास के लिए आधारभूत बहुउद्देश्यीय योजनाओं में स्कूल, क्रमबद्ध प्रशिक्षण और चल प्रदर्शन, कारखाने या कार्य स्थल पर ही अच्छी तकनीक का प्रदर्शन कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य परि-योजनाओं के लिए आयोजित किए जा सकते हैं।

4. **उच्च उत्पादन लागत**—केन्द्रित और बड़े पैमाने के उद्योगों की अपेक्षा ग्रामीण उद्योगों की उत्पादन लागत अधिक होती है। चूँकि अधिकांश उपभोक्ता इन उद्योगों का माल नहीं खरीदते हैं अतः इन्हें संगठित उद्योगों से प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है, जैसे हथ-कुटे और मशीन से साफ किए चावल। अनेक तेल घानी और कोल्हू बेकार पड़े रहते हैं क्योंकि घानी का तेल मिल के तेल की अपेक्षा महंगा पड़ता है।

ग्रामीण बेरोजगारी

तीन चौथाई जनसंख्या और राष्ट्रीय उत्पाद (आय) में बराबर (आधा) का सहयोग देने वाला परम्परागत कृषि क्षेत्र अभी भी सीमित रोज़गार की सुविधाओं से वंचित है क्योंकि घरेलू कार्यों में श्रम की प्रधानता अधिक होती है। इसके अतिरिक्त उत्पादन के साधनों जैसे प्रशिक्षित श्रम-शक्ति में उचित सामंजस्य नहीं हैं क्योंकि भूमि और सिंचाई सुविधाओं की कमी कम पूँजी, कम वर्षा, पुरानी तकनीक आदि कृषक वर्ग के सामने विकास के लिए अनेक समस्याएँ उत्पन्न कर देती हैं। अर्द्धविकसित देशों में अल्प रोजगार की समस्या प्रभावशाली माँग में कमी, की वजह से नहीं होती है, बल्कि उत्पादन के साधनों की आपूर्ति में कमी के फलस्वरूप होती है। अल्प रोजगार दो प्रकार का हो सकता है—अर्द्ध अल्प रोजगार और सामर्थ्य अल्प रोज़गार।

अर्द्ध अल्प रोज़गार उस स्थिति में पाया जाता है जब श्रमिक के पास उसकी कार्यक्षमता के अनुरूप कार्य नहीं होता है और बिना अतिरिक्त पूँजी विनियोजन के ही काम के घंटे बढ़ाकर श्रम विभाजन और कार्य के संगठन में सुधार करके, साधारण श्रम एवं समय बचाने वाले यंत्रों का प्रयोग करके कार्य को बढ़ाया जा सकता है।

सामर्थ्य अल्परोज़गार में कुछ आधारभूत परिवर्तन के फलस्वरूप लोगों के बेरोजगार होने की स्थिति पाई जाती है। प्रो० मवर्स ने इसे "तकनीकी प्रगति" कहा है और अधिक

मशीनों, संयंत्र मशीनीकरण, अधिक अच्छे बीज, सिंचाई सुविधाओं में वृद्धि आदि घटकों को सामर्थ्य अल्परोजगार का कारण बतलाया है। इन तकनीकी विकासों का प्रयोग प्राथमिक उत्पादन में यदि सभी जगह समान रूप से नहीं पाया जाता, तो विकास असंतुलित हो जाता है।

ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी

कृषि श्रम जाँच समिति (1950-51) के अनुसार ग्रामीण बेरोजगारी का स्तर 28 लाख बेरोजगारों के बराबर था। बेरोजगारी विशेषज्ञ समिति (भगवती समिति) ने 1972 में बेरोजगारों की संख्या 187 लाख बतलाई थी, जिसमें 161 लाख ग्रामीण क्षेत्रों में और 26 लाख शहरी क्षेत्रों में थे।

राष्ट्रीय प्रतिवर्ष सर्वेक्षण के अनुसार 1971 में बेरोजगारों की संख्या 292.9 लाख थी जो कि तीन प्रकार की थी— खुले बेरोजगार 92.5 लाख, अत्यन्त बेरोजगार 122.0 लाख तथा अपूर्ण रोजगार, जो कि मिलने पर और अधिक काम करने को तैयार है, 78.4 लाख। इस श्रम शक्ति में वृद्धि का मूल कारण जनसंख्या का तीव्र गति से बढ़ना भी है जो 1971 में 54 करोड़ हो गई थी। चूँकि परम्परागत ढंग से कृषि अर्थव्यवस्था में कृषि कार्य किया जा रहा है, प्रकृति पर निर्भरता बनी रहने के कारण कृषि-श्रम-शक्ति, अर्द्ध रोज़गार और अल्प रोज़गार से ग्रसित है। इसका प्रमाण भी स्पष्ट है कि 1951 में 275 लाख कृषि श्रमिकों की सख्या थी, जो बढ़कर 1971 में 475 लाख हो गई। यह विशाल श्रम शक्ति बेरोजगारी की और मौसमी अर्द्ध बेरोजगारी से पीड़ित है। एक अनुमान के अनुसार, ग्रामीण क्षेत्रों में 160 लाख और शहरी क्षेत्रों में 274 लाख लोगों को अतिरिक्त रोजगार की आवश्यकता है। स्वतंत्रता से पूर्व के अनुमानों के अनुसार, देश में विभिन्न ग्रामीण क्षेत्रों में 150 दिन से 270 दिन तक लोग बेरोज़गार रहते थे। बेरोज़गारी विशेषज्ञ समिति ने 1971 में बतलाया था कि 187 लाख लोगों में से 90 लाख (48 प्रतिशत) पूर्ण बेरोजगार है और 97 लाख लोगों को सप्ताह में मात्र 14 घण्टे कार्य करने को मिलता है। 161 लाख (86 प्रतिशत) लोग ग्रामीण क्षेत्रों में और 26 लाख (14 प्रतिशत) शहरी क्षेत्रों में बेकार हैं।

ग्रामीण बेरोजगारी के कारण

ग्रामीण क्षेत्रों में ग्रामीण बेरोजगारी की समस्या अधिक जटिल है, क्योंकि अल्प रोज-गार भी बेरोजगारी के ही समान हैं। यद्यपि देश के अनेक भागों में व्यस्त कृषि कार्य दिवसों में श्रमिकों की कमी पड़ जाती है, लेकिन वर्ष के शेष दिनों में कृषि श्रमिकों की बड़ी संख्या

लगातार कार्य के बिना रहती है। ग्रामीण क्षेत्रों में अल्प रोजगार और बेरोजगारी के प्रमुख कारण इस प्रकार हैं—

1. गाँव में वैकल्पिक कार्यों की अनुपस्थिति।
2. जनसंख्या में तेज गति से वृद्धि।
3. अकृषि क्षेत्र में विकास की कमी।
4. कुटीर उद्योगों की समाप्ति।
5. छोटी कृषि इकाइयाँ किसान और उसके परिवार को थोड़े समय का ही रोजगार प्रदान कर पाती हैं।
6. ग्रामीण ऋणग्रस्तता, अशिक्षा, रहने के तरीकों के फलस्वरूप ग्रामीण अर्थव्यवस्था अधिक लाभप्रद सिद्ध नहीं होती है।
7. मौसमी कृषि कार्य के फलस्वरूप ग्रामीण श्रमिक आलसी बन जाते हैं।
8. पूँजी की अपर्याप्तता।
9. कृषकों द्वारा बाहर जाने या कृषि कार्य छोड़ने के प्रति भी इच्छा नहीं होती है।
10. जाति-प्रथा और संयुक्त परिवार प्रथा से व्यावसायिक परिवर्तन की संभावनाएँ भी नहीं होती हैं।

सुधार हेतु सुझाव

कृषि अभी भी एक निराशाजनक उद्योग है। अतः इसमें पूर्ण रोजगार की संभावनाएँ बहुत कम हैं। श्रमिकों को उनके फालतू समय में रोजगार के अवसर प्रदान करना ही एक प्रमुख कार्य है। बेरोजगारी और अल्प बेरोजगारी को दूर करना ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए। वर्तमान लघु एवं घरेलू ग्रामीण उद्योगों में अच्छे ढंग की तकनीकी और क्षेत्रीय आवश्यकताओं के अनुरूप श्रमप्रधान नई-नई औद्योगिक इकाइयों की स्थापना के द्वारा ग्रामीण औद्योगीकरण से ही ग्रामीण अर्थव्यवस्था का विकेन्द्रीकरण हो सकता है जो कि राष्ट्र की एक बहुत बड़ी सामाजिक एवं आर्थिक आवश्यकता है। इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि इन उद्योगों का विकास इस प्रकार से किया जाना चाहिए कि वित्त की दृष्टि से ये स्वावलम्बी रहें। निस्सन्देह इन्हें समाज से सहायता तथा प्रोत्साहन की आवश्यकता है।

अध्याय 10

ग्रामीण यातायात

किसी भी देश की आर्थिक प्रगति के लिए कृषि, खानें और उद्योग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं। लेकिन समान रूप से यातायात और संदेशवाहन के साधन भी प्रमुख हैं, जो व्यापार को संभव बनाते हैं। यदि कृषि और उद्योग को किसी अर्थव्यवस्था का शरीर और हड्डी मान लिया जाए, तो यातायात और संदेशवाहन इसकी धमनी और नाड़ियाँ कहे जा सकते हैं। किसी भी आधुनिक अर्थव्यवस्था का अस्तित्व समतापूर्ण यातायात प्रणाली से ही संभव है।

चूंकि यातायात से माल का विक्रय क्षेत्र विस्तृत हो सकता है, अतः श्रम-विभाजन के आधार पर बड़े पैमाने का उत्पादन भी संभव हो सकता है। अतः यह आवश्यक शर्त है कि यदि यातायात प्रणाली पर्याप्त विकसित है तो कृषि, खान एवं उद्योगों का भी समुचित विकास हो सकेगा। कच्चे माल, ईंधन, मशीनों को उत्पादन स्थान तक ले जाने के लिए यातायात प्रणाली अधिक आवश्यक प्रतीत होती है। किसी भी क्षेत्र में जैसे-जैसे उत्पादन और विस्तार क्रियाएँ बढ़ती जाएँगी, यातायात सुविधाओं की भी उसी के अनुरूप आवश्यकता बढ़ती जाएगी। कृषि में यातायात की आवश्यकता प्रायः माल को बेचने के लिए पड़ती है, जबकि उद्योगों में उत्पादन और विक्रय दोनों समय पर यातायात के साधनों का प्रयोग करना पड़ता है।

पिछड़े और भारत जैसे अर्द्धविकसित देश की दृष्टि से यातायात और संदेशवाहन का अधिक महत्त्व है। भारत के गाँवों में लोग अज्ञानता, जातिभेद, झूठे रीति-रिवाज और परम्पराओं में ग्रसित हैं। इसके फलस्वरूप श्रमिक, व्यवसाय के एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जा सकता। इससे तीव्र आर्थिक विकास में बाधा पहुँचती है। विकसित यातायात एवं संदेशवाहन से नए विचार मालूम होते हैं और ज्ञान में वृद्धि होती है। इस प्रकार जाति एवं अन्य बंधनों से मुक्ति होने पर तेज आर्थिक विकास के लिए प्रयत्नशील हुआ जा सकता है।

उत्पादन के साधन और दूरस्थ स्थानों को समीप लाने में यातायात से सहायता प्राप्त होती है। कुछ क्षेत्र कृषि, जंगल एवं खनिज पदार्थों से सम्पन्न होने पर भी विकसित नहीं हो पाते हैं। या तो वे दूर हैं या आसानी से वहाँ पहुँचा नहीं जा सकता। अपेक्षाकृत उन्नत

यातायात के साधनों से पिछड़े क्षेत्रों को जोड़ने से प्राकृतिक साधनों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया जा सकेगा।

भारतीय ग्रामीण प्रणाली में यातायात का अध्ययन करने के पूर्व हमें योजनाओं में संदेश वाहन के क्षेत्र में हुई प्रगति को देखना उचित रहेगा। विस्तृत ग्रामीण सड़कों के अभाव में कृषि पदार्थों का श्रेष्ठतम विक्रय नहीं हो पाया है। फलस्वरूप शहरों की अपेक्षा ग्रामीण क्षेत्र आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में उचित रूप से विकसित नहीं हो सके हैं। हमारे देश में लंबी अवधि तक शासन करने के दौरान ब्रिटिश सरकार ने हमेशा रेलों और सैनिक उद्देश्य की सड़कों का विकास किया। फलस्वरूप शहरों की अपेक्षा ग्रामीण क्षेत्रों में इस प्रकार का विकास नहीं किया गया।

कृषि के रायल कमीशन ने यातायात को विक्रय का आवश्यक अंग मानते हुए कहा है कि "प्रत्येक यातायात के साधन से युक्त अच्छी तथा बड़ी सड़कें कृषक के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इसके स्थान पर उसकी आवश्यकतानुसार ऐसी सड़कें होनी चाहिएँ जो उसके गाँव से विक्रय स्थान और प्रमुख सड़कों को जोड़ सकें।"

भारतीय अर्थव्यवस्था में सड़क यातायात का महत्त्व

रेल यातायात की तुलना में सड़क यातायात के निम्न लाभ हैं—

1. मोटर यातायात और सड़क निर्माण से कुल राष्ट्रीय उत्पाद में अधिक वृद्धि हो जाती है, लेकिन भारत इस क्षेत्र में बहुत पीछे रहा है। इसके अतिरिक्त, सड़क बनाने और उसके रख-रखाव पर रोजगार भी अधिक मिल जाता है।
2. रेल यातायात के निर्माण के लिए अधिक पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। अतः सड़क यातायात को इसीलिए अपेक्षाकृत प्राथमिकता दी जाती है कि पूँजी विनियोजन बहुत कम किया जाता है।
3. सड़क यातायात शीघ्र, आरामदायक और परिवर्तनशील होता है। समीप के स्थानों की यात्रा और माल भेजने में सड़क यातायात अच्छा होता है। बसें या गाड़ियाँ कहीं से भी सवारी या सामान को ले जा सकती हैं और कहीं भी पहुँचा सकती हैं।
4. रेलों की पूरक के रूप में सड़कें आवश्यक होती हैं। रेलें शहरों को जोड़ती हैं। भारत गाँवों का देश है और केवल सड़कें ही गाँवों को जोड़ने में सहायता कर सकती हैं। प्रत्येक रेलवे स्टेशन उचित प्रकार की सड़कों से जुड़ा होना चाहिए। इस प्रकार सड़कों के माध्यम से ही रेलों को माल और सवारी मिल सकती है।

5. विशेषकर किसानों के लिए सड़क यातायात अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। नष्टवान वस्तुएँ, जैसे सब्जी, फल आदि सड़कों द्वारा ही शीघ्र विक्रय स्थलों को भेजी जा सकती हैं। सड़कों के विकसित होने पर ही किसान अपनी फसल के लिए उचित बाजार की निश्चितता कर सकता है। सड़कें अच्छी होने पर जानवरों को भी बोझा ढोने का परिश्रम नहीं करना पड़ता है। बारिश के मौसम में तो विशेषकर अच्छी सड़कों के अभाव में, किसान अपने गाँव से भी नहीं निकल पाता है। अतः यह महत्त्वपूर्ण है कि सड़क यातायात से ग्रामीण, शहरी वातावरण के सम्पर्क में आ सकता है।

पंचवर्षीय योजनाओं में सड़कों का विकास

1950-51 में, जब प्रथम पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ की गई थी, देश में, छोटी कच्ची सड़कों के अतिरिक्त 156,073 कि०मी० में पक्की सड़कें और 242,959 कि०मी० के क्षेत्र में पक्की परन्तु अनमैटल्ड सड़कें थीं। प्रथम योजना में 135 करोड़ रुपये की राशि व्यय करने पर 38,616 कि०मी० की पक्की एवं 74,169 कि०मी० अतिरिक्त कच्ची सड़कें बनाई जा सकीं।

द्वितीय योजना काल में, सड़क विकास पर 228 करोड़ रुपये व्यय करने की व्यवस्था थी। इस प्रकार कुल पक्की सड़कें 231,696 कि०मी० और कच्ची सड़कें 402,250 कि०मी० हो गईं। यद्यपि दोनों योजनाओं में मात्र 532,579 कि०मी० सड़कों का लक्ष्य निश्चित किया गया था (नागपुर योजना के अनुसार), परन्तु दोनों ही क्षेत्रों में प्रगति लक्ष्यों से अधिक हो सकी।

तृतीय योजना के लिए हैदराबाद योजना के अनुसार सड़क विकास के प्रावधान थे। सन् 1959 में विभिन्न राज्यों के प्रमुख अभियन्ता और केन्द्र के अभियन्ताओं की हैदराबाद में हुई मीटिंग में निश्चित योजना और लक्ष्यों का निर्धारण किया गया था। 20 वर्ष के लिए योजना कार्यक्रम बनाए गए थे। और इस अवधि में 405,468 कि०मी० में पक्की सड़कों और 651,645 कि०मी० कच्ची सड़कों का निर्माण किया जाना था। कृषि क्षेत्र के प्रत्येक उन्नत और विकसित गाँव के 6.4 कि०मी० के पास पक्की सड़क और 2·4 कि०मी० में कच्ची सड़क बनाए जाने का प्रावधान हैदराबाद योजना में किया गया था। तृतीय योजना में सड़क विकास कार्यक्रम पर 324 करोड़ रुपये व्यय करने का प्रावधान था। तीसरी योजना में उन क्षेत्रों के लिए भी विशेष प्रावधान करने थे जो स्थान संदेशवाहन के साधनों से जुड़े हुए नहीं थे। साथ ही, ग्रामीण क्षेत्रों में समुचित सड़क विकास अवश्य किया जाना था। तृतीय योजना के प्रारम्भ होते ही चीनी आक्रमण के फलस्वरूप आपतकाल की घोषणा कर दी गई और 125 करोड़ की अतिरिक्त सड़क योजनाएँ और जोड़ी गईं। तीन वार्षिक योजना काल (1966-69) में 308 करोड़ रुपये की धनराशि व्यय हुई।

चतुर्थ योजना में 880 करोड़ रुपये व्यय करके 60,000 कि०मी० अतिरिक्त सड़कों के निर्माण की योजना थी। परन्तु चतुर्थ योजना में केन्द्रीय सड़क कार्यक्रम भी तेज गति से नहीं चल सका। इसका कारण था, प्रमुखतः वित्तीय कठिनाइयों और दूसरी अनेक योजनाओं पर प्रारंभिक जाँच-पड़ताल का कार्य भी पूरा नहीं हो सका था। इसके अतिरिक्त, कच्चे माल की कमी और लालफीताशाही भी इसके प्रमुख कारण रहे हैं।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में 1060 करोड़ रुपये राज्यों और केन्द्रशासित प्रदेशों के सड़क विकास पर व्यय किए जाने थे। एक सम्मिलित समन्वय दृष्टिकोण भी अपनाना था, जिससे कि केन्द्र, राज्य और अन्य विभागों द्वारा सड़क विकास कार्यक्रमों को क्रमबद्ध रूप से संयोजित किया जा सके। चतुर्थ योजना की अपेक्षा, पाँचवीं योजना में ग्रामीण सड़कों के विकास पर अधिक ध्यान दिया गया। न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम के अन्तर्गत ग्रामीण सड़कों के विकास के लिए 500 करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई थी। इस कार्यक्रम का प्रमुख उद्देश्य यह था कि 1500 की आबादी वाले गाँवों को सभी मौसमों में चालू रहने वाली सड़कों से जोड़ा जा सके। पहाड़ी इलाकों में भी अधिकतम गाँवों को वर्ष भर चलने वाली सड़कों से जोड़ने पर विशेष ध्यान देने की व्यवस्था थी। भारत में 1975-76 तक 5,13,000 कि०मी० पक्की सड़कें तथा 7,87,000 कि० मी० कच्ची सड़कें थीं।

योजना आयोग द्वारा 1978-83 के लिए प्रस्तावित योजना कार्यक्रम में, जो राष्ट्रीय विकास परिषद को सौंपा गया है, यही प्रारम्भिक व्यवस्था है कि 1500 की आबादी वाले सभी और 1000 से 1500 की आबादी वाले आधे गाँवों को प्रमुख सड़कों से जोड़ दिया जाएगा और शेष गाँव अगले पाँच वर्षों में जोड़ दिए जाएँगे।

ग्रामीण सड़क यातायात के साधन

बैलगाड़ी और टायर के पहियों की गाड़ी—ग्रामीण यातायात के साधनों की दुर्दशा अभी भी बनी हुई है। प्राचीनतम काल में प्रयुक्त बैलगाड़ी आज भी उसी रूप में गाँवों में यातायात के प्रमुख साधन के रूप में प्रचलित है। इसके दो प्रमुख कारण हैं— (1) आधुनिक यातायात के साधनों को गाँवों की सड़कों पर विश्वास के साथ नहीं चलाया जा सकता, और (2) पशु शक्ति जो वर्ष के अनेक दिनों तक बेकार रहती है, उसका भी प्रयोग कर लिया जाता है। इस प्रकार बैलगाड़ी ग्रामीण अर्थव्यवस्था का अभिन्न अंग बन गई है। यद्यपि व्यापारिक क्रियाओं के बढ़ने से यातायात के अन्य साधनों की भी आवश्यकता बढ़ती जा रही है, फिर भी इसका महत्त्व अभी कम नहीं हुआ है। सन् 1960-61 में योजना आयोग के कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन के एक अध्ययन से मालूम पड़ा था कि अनाज की मंडियों में बैलगाड़ियों की अपेक्षा अब धीरे-धीरे ट्रकों का प्रयोग अधिक होता जा रहा है।

यदि मंडी नजदीक है तो स्वाभाविक है कि बैलगाड़ी का ही अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग किया जाता है। यह भी देखा गया कि गाँवों में ट्रकों तथा ट्रैक्टर ट्राली की व्यवस्था भी धीरे-धीरे विकसित होती जा रही है।

बैलगाड़ी या टायर गाड़ी के आर्थिक लाभ

1. ग्रामीणों के लिए बैलगाड़ी या टायर गाड़ी यातायात का सबसे सस्ता साधन है। इसके रख-रखाव में भी उसे किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती है। किसान अपनी फसल को घर या मंडी में लाता है। शहर से बीज या खाद खेत पर ला सकता है। परिवार के सदस्यों को पास के बस अड्डे या रेलवे स्टेशन पर लाने-ले जाने के लिए भी इसका प्रयोग किया जाता है। विवाह की बारात पार्टियाँ भी बैलगाड़ी पर ही आसपास के गाँवों में जाती रहती हैं।

2. गाड़ी बनाना ग्रामीण उद्योग है, जिसमें किसी भी भारी पूँजी विनियोजन की आवश्यकता नहीं पड़ती है। आस-पास गाँवों या कस्बों में गाड़ियाँ बनाकर नियमित रूप से लगने वाले ग्रामीण मेले या हाटों में इन्हें बेच दिया जाता है। इसमें कुछ विशेष यंत्रीकृत कार्य की आवश्यकता नहीं रहती और इसका मरम्मत व्यय भी लगभग नहीं के समान होता है। इस प्रकार गाँवों के लिए यह सबसे उपयुक्त यातायात का साधन है।

3. ग्रामीणों के लिए रोजगार के रूप में भी यह उचित साधन है।

ऊँट गाड़ी

बैलों की अपेक्षा ऊँट मजबूत और तेज चलने वाला होता है। अपेक्षाकृत भारी सामान, सब्जी, खेत के उत्पाद, चमड़े का सामान ऊँट गाड़ी में अधिक सुविधाजनक ढंग से ले जाया जा सकता है। यह गाड़ी राजस्थान, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, पंजाब और हरियाणा में अधिक प्रचलित है। पिछले कुछ वर्षों में इसका स्थान, मोटर, ट्रक, टेम्पो और ट्रैक्टर-ट्राली आदि ने ले लिया है जो भार और लागत की अपेक्षा अधिक तेज गति से भी चल सकते हैं।

घोड़ा गाड़ी

दो पहियों की एक घोड़े द्वारा खींची जाने वाली गाड़ी गाँवों, कस्बों और छोटे शहरों में सवारी और खेत का सामान लाने-ले जाने का अत्यन्त ही प्रसिद्ध साधन है। यद्यपि बस और रिक्शा चलने लगे हैं, परन्तु घोड़ा गाड़ी फिर भी प्रसिद्ध है क्योंकि इसका किराया कम है।

मोटर बस

इस साधन का प्रयोग कुछ ही लोग कर पाते हैं। केवल वे ग्रामीण जो सड़क से लगे गाँवों में रहते हैं, मोटर बस का प्रयोग शहरों में आने-जाने के लिए कर लेते हैं। अच्छी सड़कों

के अभाव में बस सेवा का गाँव के आन्तरिक स्थानों में प्रयोग नहीं हो पाता है। इस यातायात के साधन की माँग उन ग्रामीण क्षेत्रों में बढ़ती जा रही है जहाँ सामुदायिक विकास कार्यक्रम से अच्छी सड़कें बनाना संभव हो सका है, और लघु पैमाने के उद्योग स्थापित हो गए हैं। इस प्रकार यंत्रीकृत यातायात के साधनों को विकसित करने की मूलभूत आवश्यकता अच्छी सड़कों का विकास है।

अध्याय 11

पंचवर्षीय योजनाएँ एवं कृषि

स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय अर्थव्यवस्था को द्वितीय युद्ध और विभाजन के दुष्परिणामों से अपने आपको संभालना था। देश की आवश्यकतानुसार योजना के उद्देश्य और तकनीक का भी निरूपण कर लिया जाता है। भारतीय संविधान में भी यही आशा की गई है कि सभी नागरिकों के लिए रहने के पर्याप्त साधन प्राप्त हों और सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक न्याय से व्याप्त राष्ट्रीय जीवन हो। योजना के माध्यम से लोगों का जीवन स्तर उच्च बनाने के लिए कृषि और सामुदायिक विकास को योजना में उच्च प्राथमिकता दी गई है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कृषि के विकास से अर्थव्यवस्था उन्नतिशील जीवन का स्थायित्व तीन विधियों से प्राप्त हो सकेगा—

(अ) कुल राष्ट्रीय उत्पाद में वृद्धि करके,

(ब) खाद्यान्न और कच्चे माल को अर्थव्यवस्था के दूसरे कमी वाले क्षेत्रों में भेज कर,

(स) आर्थिक विकास के लिए बचत या आधिक्य में वृद्धि करके।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि (1951-56)

विकास की स्थायी संरचना के निर्माण के लिए केन्द्रित प्रयत्नों से यातायात, सिंचाई और शक्ति की अनेक योजनाओं और परियोजनाओं से, जो युद्ध के पश्चात् प्रारम्भ कर दी गई थीं, कार्य परिणाम प्राप्त करना प्रथम योजना का प्रारम्भिक लक्ष्य था। प्रथम योजना में कृषि के साथ सिंचाई और सामुदायिक विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई थी। इस योजना में 1960 करोड़ रुपये (31 प्रतिशत) व्यय करने का प्रावधान था। सामुदायिक विकास, प्रगतिशील उत्पाद और समान वितरण को ध्यान में रखकर संतुलित एवं केन्द्रित आर्थिक प्रगति ही प्रथम योजना का प्रारम्भिक दृष्टिगत बिन्दु था। योजना काल के पूर्व अन्य अर्द्ध-विकसित देशों के समान भारत में भी कृषि उत्पादकता बहुत कम थी। सिंचाई की कमी, पुराने कृषि संयंत्र और तकनीक, खाद और उर्वरक की अपर्याप्त मात्रा के फलस्वरूप निम्न कृषि उत्पादन, निम्न विक्रय योग्य कृषि आधिक्य, निम्न आय और विनियोजन का दुष्चक्र गरीबी

को बनाए हुए था। आर्थिक विकास की दृष्टि से आधिक्य (बचत) और विनियोजन में वृद्धि जनसंख्या की वृद्धि से अधिक होनी चाहिए। भारत में कुल आय का 50 प्रतिशत जब कृषि से प्राप्त होता है तो बचत भी इतनी ही मात्रा में विनियोजन के लिए प्राप्त होनी चाहिए, क्योंकि उद्योगों में बचत करने की स्थिति तत्काल ही संभव नहीं होती है। स्वतंत्रता के पूर्व सन् 1900-1950 की अवधि में कृषि विकास की दर मात्र आधा प्रतिशत रही है। इसके विपरीत प्रथम योजना में यह दर 2.8 प्रतिशत प्रतिवर्ष हो गई थी।

छोटी कृषि सिंचाई योजना के अतिरिक्त विभिन्न फसलों के उत्पादन की वृद्धि के लिए खाद का अधिक प्रयोग, भूमि सुधार, कृषि-क्षेत्रों में वृद्धि और कृषि विकास के प्रति कृषक के दृष्टिकोण में परिवर्तन करना भी योजना में शामिल था। बड़ी संख्या में सामुदायिक विकास खण्डों की स्थापना, राष्ट्रीय विकास कार्यक्रम का विस्तार, भूमि सुधार के प्रति प्रयत्नशीलता और मध्यस्थों की समाप्ति से स्पष्ट लगता है कि भारतीय ग्रामीण समाज में सामाजिक ढाँचे के परिवर्तन के प्रति सार्वभौम जागरूकता थी। खाद्यान्नों की कमी और मुद्रा प्रसार जैसे युद्ध के अवशेष रोग के रूप में अभी भी बने हुए थे।

प्रथम योजना में एक करोड़ एकड़ भूमि को छोटी सिंचाई योजना के अन्तर्गत और 63 लाख एकड़ भूमि को मध्यम एवं बड़ी सिंचाई योजनाओं के अन्तर्गत लाना था। खाद के प्रयोग करने पर सिंचाई के महत्त्व को और भी महसूस किया गया। योजनाकाल में अमोनिया सल्फेट खाद का प्रयोग 2,75,000 टन से बढ़कर 6,10,000 टन हो गया। जापानी ढंग से चावल की खेती और अन्य उन्नत तकनीकी प्रयोग करने की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया।

प्रथम योजना में उत्पादन के लक्ष्य आशा से अधिक प्राप्त हो गए। 1951-52 में 512 लाख टन खाद्यान्न उत्पादन बढ़कर 1955-56 में 658 लाख टन हो गया, जबकि योजना में अतिरिक्त उत्पादन का लक्ष्य मात्र 76 लाख टन था। उत्पादन में वृद्धि के परिणामस्वरूप आयातों में कमी और मुद्रा प्रसार की स्थिति में सुधार हुआ और द्वितीय योजना के लिए उत्पादन की दर बढ़ने की संभावनाएँ बढ़ गईं। 1953-54 में खाद्यान्न का सर्वाधिक उत्पादन हुआ और 1954-55 में तिलहन और कपास का। 1951-52 का वर्ष गन्ना और जूट के लिए श्रेष्ठ था। इस प्रकार प्रथम योजना में राष्ट्रीय उत्पादन में 18 प्रतिशत की वृद्धि हुई और इतनी ही प्रगति कृषि क्षेत्र में भी हुई।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कृषि (1956-61)

द्वितीय योजना में कृषि की प्राथमिकता को कम कर दिया गया, क्योंकि यह अनुमान लगाया गया कि देश खाद्यान्न उत्पादन के क्षेत्र में आत्मनिर्भर हो गया है। दुर्भाग्यवश खाद्यान्न की माँग का कम अनुमान लगाया गया और उत्पादन का ऊँचा अनुमान। योजनाकारों ने

जनसंख्या वृद्धि की दर1.25 प्रतिशत प्रति वर्ष सोची थी, जबकि वास्तव में जनसंख्या 2 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से बढ़ गई। उत्पादन के क्षेत्र में भी सांख्यिकी आंकड़ों पर अधिक निर्भरता रखी गई और वास्तविक तथ्यों पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया।

द्वितीय योजना में कुल 4,600 करोड़ में से 20 प्रतिशत ही कृषि, सामुदायिक विकास, बड़ी, मध्यम और छोटी सिंचाई योजनाओं के लिए दिया गया। प्रथम योजना में यह राशि 31 प्रतिशत थी। खाद्यान्न उत्पादन का लक्ष्य 6.58 करोड़ टन से बढ़ाकर 7.5 करोड़ टन कर दिया गया (इसे दुबारा बढ़ाकर 8.0 करोड़ टन कर दिया था)। विदेशी विनिमय और मुद्रा स्फीति की कठिनाई के फलस्वरूप ऐसा किया गया था। अशोक मेहता समिति की स्थापना भी खाद्य उत्पादन, उचित मूल्य नीति, वितरण प्रणाली की समीक्षा करने के लिए की गई थी। द्वितीय योजना के अन्त में फोर्ड फाउन्डेशन टीम को आमन्त्रित किया गया था, जिससे कि वह भारत में खाद्य उत्पादन में वृद्धि के लिए उचित सुझाव दे सके। इसके द्वारा प्रस्तावित पैकेज कार्यक्रम को तृतीय योजना के दौरान और बाद में भी लागू किया गया। खाद्य उत्पादन और व्यावसायिक फसलों के उत्पादन की वृद्धि में अधिक ध्यान दिया गया, जिसके लिए कृषि कार्य के लिए अतिरिक्त भूमि की व्यवस्था, लागतों का संचयीकरण और प्रति एकड़ उत्पादकता में वृद्धि करना प्रमुख था।

इस कार्य योजना में जिन प्रमुख कार्यक्रमों को शामिल किया था, वे इस प्रकार हैं—

जापानी ढंग की धान की खेती की तरह खाद्य उत्पादन की उन्नत विधियाँ, दोहरी फसल, बीज की मात्रा और पौध की स्थान-स्थान से दूरी, उचित पौध लगाना, खरपतवार की समाप्ति करने की विधि, कुएँ खोदना और उनकी मरम्मत, टैंक, बाँध, नहरें, ट्यूबवैल, पानी उठाने के संयंत्र लगाना, कलम बाँधना, किनारी या मेढ़ें बनाना, परती अथवा बंजर सम बेकार भूमि का प्रयोग और चकबन्दी। इसके अतिरिक्त आपूर्ति संबन्धित कार्यक्रमों में निम्न प्रमुख बातें शामिल की गई थीं। खाद या उर्वरक का वितरण, रासायनिक खाद, उन्नत बीज, पौधों की सुरक्षा, कम्पोस्ट खाद के गड्ढे खोदना, अधिकतम क्षेत्र को हरित कार्यों के लिए प्रयोग में लाना, जंगल कटाव को रोकना, भूमि कटाव रोकना, कीटनाशक दवाओं का प्रयोग और ग्रामीण कार्य पद्धत्ति के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन आदि।

द्वितीय योजना में कृषि की असंतोषप्रद प्रगति के फलस्वरूप मूल्य स्तर में भी वृद्धि हो गई थी। खाद्यान्नों की कमी के कारण विदेशों से अधिक मात्रा में आयात भी किया गया। खाद्यान्न का 1956 में आयात 14.4 लाख टन से बढ़कर 1961 में 35 लाख टन हो गया था। यह स्मरणीय है कि इसी अवधि में 2.1 करोड़ एकड़ अतिरिक्त भूमि पर सिंचाई सुविधाएँ बढ़ा दी गई थीं, और वास्तविक भूमि मात्र 1.6 करोड़ ही प्रयोग में लाई गई।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में कृषि (1961-66)

कृषि, सामुदायिक विकास और विभिन्न सिंचाई योजनाओं सहित तृतीय योजना में व्यय की राशि 1718 करोड़ रुपये (कुल योजना व्यय 7500 करोड़ रुपये का 23 प्रतिशत) निश्चित की गई। विभिन्न कार्यक्रमों के आधार पर लक्ष्यों को दुगुना करना प्रमुख कार्यक्रम था। दो विशिष्ट लक्ष्यों का निर्धारण योजना में रखा गया था।

1. आत्मनिर्भर होने की स्थिति तक के लिए पर्याप्त खाद्यान्न का उत्पादन, और
2. निर्यात और उद्योगों की आवश्यकता के लिए पर्याप्त व्यापारिक फसलें उत्पन्न करना।

उपर्युक्त लक्ष्यों को ध्यान में रखकर कृषि उत्पादन में वृद्धि का लक्ष्य 30 प्रतिशत रखा गया। खाद्यान्नों में 32 प्रतिशत वृद्धि की जानी थी, और व्यापारिक फसलों में वृद्धि का लक्ष्य 38 प्रतिशत रखा गया।

कृषि विस्तार के प्रयत्न तेज गति से किए जाने थे, जिससे कि तकनीकी और प्रशासनिक बाधाएँ कृषि कार्यक्रम के कार्यान्वयन में रुकावट न बनें। कृषि उत्पादन पर मौसमी असहयोग का भी उलटा प्रभाव पड़ा। तृतीय योजनाकाल में अधिकतम उत्पादन 1964-65 में 8.9 करोड़ टन हुआ, लेकिन अन्तिम वर्ष (1965-66) में उत्पादन मात्र 7.235 करोड़ टन हो सका, जबकि लक्ष्य 10.16 करोड़ टन था। 1965-66 में सूखे के फलस्वरूप भी कृषि उत्पादन पर बुरा प्रभाव पड़ा। 1965-66 में ही कृषि उत्पादन में 17 प्रतिशत की कमी होने से 10.16 करोड़ टन उत्पादन का लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सका। इस प्रकार खाद्यान्न की कमी के फलस्वरूप सन् 1966 में ही 1.036 करोड़ टन खाद्यान्न का आयात किया गया।

कृषि और वार्षिक योजनाएँ (1966-67 से 1968-69)

तृतीय योजना की समाप्ति पर 1966-67 में चतुर्थ पंचवर्षीय योजना प्रारंभ हो सकती थी, लेकिन 1962 और 1965 में बाह्य आक्रमण के फलस्वरूप आंतरिक कार्यक्रम अस्त-व्यस्त हो गए थे और लगातार दो वर्ष तक कृषि उत्पादन में कमी होती गई। सन् 1966 में रुपये का अवमूल्यन भी किया गया। इस प्रकार योजना में आवश्यक समायोजन करने आवश्यक थे। अतः यह निश्चित किया गया कि थोड़े समय के लिए चतुर्थ योजना को स्थगित कर दिया जाए और तीन वर्षों (1966-67, 1967-68 एवं 1968-69) में वार्षिक योजनाएँ बनाई गईं। उच्च फसल देने वाली फसलों के साथ रासायनिक खाद के प्रयोग को बढ़ावा दिया गया। अच्छी सामयिक बारिश और रासायनिक खाद के प्रयोग से 1967-68 में खाद्यान्न का उत्पादन 9.51 करोड़ टन हुआ, जो वार्षिक योजनाओं का अधिकतम उत्पादन था। 1968-69 के

लिए लक्ष्य 10.2 करोड़ टन का रखा गया था परन्तु अनेक भागों में फसलें खराब हो जाने से मात्र 9.4 करोड़ टन ही वास्तविक उत्पादन हो सका ।

कृषि और चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (1969-70 से 1973-74)

कृषि क्षेत्र में चतुर्थ योजना के दो प्रमुख लक्ष्य थे—प्रथम, विकास की दर में 5 प्रतिशत प्रति वर्ष की वृद्धि और द्वितीय, ग्रामीण जनसंख्या (छोटे किसान, शुष्क खेती वाले कृषक, कृषि श्रमिक सहित) को विकास में भागीदार बनाया जाए और इसके लाभों में भी ।

खाद्यान्न उत्पादन का लक्ष्य 12.9 करोड़ टन रखा गया । उत्पादन के लिए अतिरिक्त भूमि लाने की संभावना पर अधिक निर्भरता नहीं रखी गयी । प्रमुख रूप से गहन खेती, समन्वित अन्वेषण, सिंचाई सुविधाओं का उचित प्रयोग, खाद का प्रयोग, पौधों का संरक्षण और खेती की मशीनों आदि के माध्यम से उत्पादन के लक्ष्य प्राप्त करने थे । सहकारिता और कृषि से संबंधित क्षेत्रों के लिए योजनाकाल में 15,902 करोड़ रुपये की कुल योजना में से मात्र 2728 करोड़ रुपये व्यय करने का प्रावधान था ।

कार्यक्रम के प्रमुख समन्वय घटक थे - आवश्यक साजो-सामान की लगातार आपूर्ति, उन्नत बीजों के उत्पादन की पर्याप्त व्यवस्था, विधिगत कार्यों की व्यवस्था, संग्रहण एवं बीजों का प्रमाणीकरण, खाद तथा कीटनाशक दवाओं का प्रयोग, भू-सुरक्षा संबंधित और दुग्ध उत्पादन कार्य भी चतुर्थ योजना में तेजी से गतिशील किए जाने थे ।

1969-70 से कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियाँ कृषि विकास के क्षेत्र में देखने को मिलती हैं । केन्द्र सरकार के कृषि विभाग द्वारा बनाए गए कुछ कार्यक्रमों की संक्षिप्ति निम्न प्रकार है—

1. 1971-72 से 1973-74 की अवधि में छोटे और सीमान्त किसानों के साथ ही सूखा पीड़ित और ग्रामीण बेरोजगारों के लिए 385 करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई थी ।
2. खाद्यान्न और अन्य फसलों के उत्पादन में आत्मनिर्भरता के लिए नई तकनीक और *अन्वेषण कार्यक्रम विकसित किए गए ।*
3. केन्द्रीय जल बोर्ड द्वारा पानी की व्यवस्था और भूमिगत पानी के प्रयोग के कार्य विशेष देखरेख में चलाए गए । इसका उद्देश्य मौनसून की निर्भरता को छोड़कर पानी के प्रयोग को बढ़ावा देना था ।
4. पौधों की सुरक्षा और दवा छिड़कने के लिए एक अलग कृषि विमानन निर्देशालय की स्थापना की गई और संबंधित कार्यों के लिए अलग टीम भी बनाई गई ।

सन् 1970-71 में राष्ट्रीय कृषि आयोग की स्थापना की गई, जिसका कार्य कृषि क्षेत्र की प्रगति तथा समस्याओं और संभवानाओं की जानकारी प्राप्त करना था । आयोग का

प्रमुख कार्य, विस्तार से वर्तमान उन्नति का अध्ययन करना और सुधार के लिए सिफारिशें प्रस्तुत करना था। मार्च 1975 में इसने 22 अन्तरिम प्रतिवेदन प्रस्तुत किए थे।

1973-74 के लिए चतुर्थ योजना का लक्ष्य खाद्यान्न उत्पादन के लिए 12.9 करोड़ टन था, जबकि वास्तविक उत्पादन 11.4 करोड़ टन ही हुआ। उच्च किस्म की फसल का उत्पादन योजना के 3.1 करोड़ टन के लक्ष्य के स्थान पर 2.1 करोड़ टन ही हुआ। कुल मिलाकर उच्च फसल किस्म की सफलता संतोषजनक रही। परन्तु सभी क्षेत्रों में यह समान नहीं थी, क्योंकि व्यापारिक फसलों में सिंचाई सुविधाओं की कमी के फलस्वरूप गिरावट आई। इसी प्रकार विभिन्न किस्म के तिलहन और मूँगफली में कमी के प्रमुख कारण पर्याप्त ऋण सुविधाओं की कमी और मौनसूनी प्रकोप थे।

रासायनिक खाद का वास्तविक उपभोग 28.39 लाख टन हुआ, जबकि लक्ष्य 55 लाख टन का था। नाइट्रोजन 18.29 लाख टन, फासफोरस 6.50 लाख टन और के 20 का 3.60 लाख टन उपयोग हुआ जबकि इनके लक्ष्य क्रमश: 32, 14 और 9 लाख टन थे।

मछली, दूध और ऊन का उत्पादन भी लक्ष्यों से नीचे रहा। 1973-74 में इनका उत्पादन क्रमश: 22.69 लाख टन, 2.32 करोड़ टन, और 3.01 करोड़ किलोग्राम रहा। अण्डे 770 करोड़ उपलब्ध हो सके।

कृषि और पांचवीं पंचवर्षीय योजना (1974-75 से 1978-79)

पाँचवीं योजना के प्रारूप में दो महत्त्वपूर्ण लक्ष्य रखे गए थे—गरीबी हटाना और आर्थिक आत्मनिर्भरता प्राप्त करना। इसके निर्देशन सिद्धान्त निम्न थे—

1. परियोजना की शीघ्र पूर्ति
2. उपलब्ध क्षमता का पूर्णतम प्रयोग
3. प्रमुख क्षेत्रों में उपलब्ध अतिरिक्त कार्यक्षमता के न्यूनतम लक्ष्य निर्धारित करना
4. आर्थिक दृष्टि से कमजोर वर्ग के लिए विकास के न्यूनतम स्तर को प्राप्त करना।

योजना में 53411 करोड़ रु० (37250 करोड़ रु० सार्वजनिक क्षेत्र में और 16161 करोड़ रुपये निजी क्षेत्र में) व्यय करने का प्रावधान था। इसमें से 4730 करोड़ रुपये (20 प्रतिशत) कृषि और संबद्ध क्षेत्रों में व्यय किए जाने थे। खाद्यान्न उत्पादन का लक्ष्य 14 करोड़ टन निर्धारित किया गया था। कृषि में विकास की दर 4.2 प्रतिशत प्रति वर्ष (चौथी योजना में 3.9 प्रतिशत प्रति वर्ष) निर्धारित की गई थी। 110 लाख हैक्टेयर अतिरिक्त फसल उत्पादक क्षेत्र शामिल करके कुल उत्पादन क्षेत्र 18.0 करोड़ हैक्टेयर करना था (1973-74 में यह 16.9 करोड़ हैक्टेयर था)।

फसल उत्पादन में अधिक वृद्धि के लिए बहु-उद्देश्यीय प्रयत्न निम्न प्रकार किए जाने थे :

1. समस्याजनित अन्वेषण में पूर्ण सामंजस्य
2. प्रमाणित बीजों में वृद्धि और वितरण बढ़ाना
3. कृषि विस्तार कार्यक्रमों में वृद्धि
4. रासायनिक खाद के उपभोग में वृद्धि
5. जल प्रबंधन
6. साख सुविधाओं में वृद्धि
7. फसल काटने के बाद की तकनीक में वृद्धि और फसल विक्रय की श्रेष्ठ सुविधाए
8. संग्रहण और विक्रय कार्यक्रम में सुधार
9. भूमि सुधार कार्यक्रमों को लागू करना।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में कृषि उत्पादन की मुख्य विधियाँ निम्न प्रकार की थीं—

(अ) शुष्क खेती की तकनीक में वृद्धि;
(ब) उच्च किस्म की फसल का चुने हुए क्षेत्रों में उत्पादन; तथा
(स) 50 बड़ी सिंचाई परियोजनाओं के माध्यम से 1.4 करोड़ हैक्टेयर क्षेत्र में खेती के बड़े कार्यक्रम को कार्यान्वित करना।

इस बात को ध्यान में रखते हुए कि 1951-52 की अपेक्षा अब एक विशाल कृषि क्षेत्र आर्थिक नियोजन में शामिल हो गया है, कृषि उत्पादन का काम अब केवल किसान का ही नहीं बल्कि सरकार, वित्तीय संस्थाओं तथा उत्पादक और विक्रय संगठनों का भी है। पाँचवीं पंचवर्षीय योजना अपनी निश्चित अवधि तक न चल सकी और चार वर्षों में ही इसको समाप्त करना पड़ा।

तत्पश्चात् छठी पंचवर्षीय योजना (1978-83) का प्रारूप तैयार किया गया। यह योजना आवर्ती योजना प्रविधि पर आधारित थी। किन्तु यह छठी योजना भी अधिक समय तक न चल सकी और इसको बीच में ही छोड़ना पड़ा। अतः इस अध्याय में केवल पाँचवीं पंच-वर्षीय योजना तक ही कृषि अध्ययन को रखा गया है।

—o—

परिशिष्ट

1981 की जनगणना से प्राप्त कुछ आँकड़े

1. जन संख्या

व्यक्ति	683,810,051	658,140,676	(आसाम तथा
पुरुष	353,347,249	339,895,757	जम्मू-कश्मीर को
स्त्री	330,462,802	318,244,919	छोड़कर)

2. विश्व की तुलना में

भारत का स्थान :	दूसरा
जनसंख्या का अनुपात :	15.53 प्रतिशत
क्षेत्रफल का अनुपात :	2.4 प्रतिशत

3. 1971-81 में वृद्धि-दर

   +24.75, +24.43*

4. जनसंख्या का घनत्व

   221

5. प्रति 1000 पुरुषों में स्त्रियों की संख्या

   935

6. साक्षरता दर

कुल	36.17 प्रतिशत
पुरुष	46.74 प्रतिशत
स्त्री	24.88 प्रतिशत

7. ग्रामीण जनसंख्या का कुल जनसंख्या में अनुपात : 72.27 प्रतिशत
8. गाँवों में बसी जनसंख्या : 501,952,169*
9. शहरों में बसी जनसंख्या : 156,188,507*
10. 1971-81 में ग्रामीण जनसंख्या की वृद्धि-दर +18.96*

---

* आसाम तथा जम्मू-कश्मीर को छोड़कर

11. कामगारों की संख्या

(अ) मुख्य-कामगार

	व्यक्ति	पुरुष	स्त्री
कुल	220,082,531	174,115,384	45,967,147
ग्रामीण	174,529,113	134,097,736	40,431,377
शहरी	45,553,418	40,017,648	5,535,770

(ब) सीमांत-कामगार

	व्यक्ति	पुरुष	स्त्री
कुल	27,065,784	6,691,182	20,374,602
ग्रामीण	23,553,480	5,426,640	18,126,840
शहरी	3,512,304	1,264,542	2,247,762

12. कार्य-सहभागिता दर

(अ) और (ब) को मिलाकर

	व्यक्ति		पुरुष		स्त्री	
	1971	1981	1971	1981	1971	1981
कुल	34.17	37.55	52.75	53.19	14.22	20.85
ग्रामीण	35.33	39.46	53.78	54.32	15.92	23.89
शहरी	29.61	31.41	48.88	49.70	7.18	10.64
केवल (अ) श्रेणी						
कुल	33.09	33.44	52.61	51.23	12.13	14.44
ग्रामीण	34.04	34.77	53.62	52.21	13.44	16.49
शहरी	29.34	29.17	48.82	48.18	6.68	7.57

13. कार्य की दृष्टि से मुख्य कामगारों का विभाजन (प्रतिशत) :

(कुल)

	कृषक	कृषि-श्रमिक	घरेलू-उद्योग	अन्य-कामगार
व्यक्ति	41.53	25.16	3.99	29.32
पुरुष	43.77	19.77	3.69	32.77
स्त्री	33.03	45.57	5.16	16.24

		(ग्रामीण)		
व्यक्ति	51.00	30.12	3.40	15.48
पुरुष	55.26	24.26	3.16	17.32
स्त्री	36.86	49.57	4.23	9.34
		(शहरी)		
व्यक्ति	5.25	6.15	6.25	82.35
पुरुष	5.26	4.74	5.46	84.54
स्त्री	5.11	16.32	11.98	66.59

14. कुल जनसंख्या में मुख्य कामगारों का प्रतिशत :

		(कुल)		
	कृषक	कृषि-श्रमिक	अन्य कामगार	कुल कामगार
व्यक्ति	13.89	8.41	11.14	33.44
पुरुष	22.42	10.13	18.68	51.23
स्त्री	4.77	6.58	3.09	14.44
		(ग्रामीण)		
व्यक्ति	17.73	10.47	6.57	34.77
पुरुष	28.85	12.67	10.69	32.21
स्त्री	6.08	8.17	2.24	16.49
		(शहरी)		
व्यक्ति	1.53	1.79	25.85	29.17
पुरुष	2.54	2.28	43.36	48.18
स्त्री	0.39	1.23	5.95	7.57

नोट : उपर्युक्त आँकड़े भारतीय जनगणना 1981 के अंतर्गत प्रकाशित पेपर 1,2 तथा 3 पर आधारित हैं। जैसा कि वहाँ बताया गया है कि क्र० सं० 1-14 पर दिए हुए आँकड़ों में आसाम तथा जम्मू-कश्मीर राज्यों के आँकड़े शामिल नहीं हैं।

(*d*) "Material obviously unsuited for lending purposes, broadsides, deeds, prints . ."

The above factors must therefore be borne in mind when selecting books for the reference department or when the problem arises as to whether a book should be placed in the lending or reference library.

Selection

The general guides to reference books by Minto, Mudge, and Shores, have been discussed in Chapter II, in which chapter there is also a list of bibliographies.

Excellent lists of representative reference books are given in *Library stock and assistance to readers* by L. R. and E. R. McColvin (Grafton, 1936). Reference material is also described in detail in *The use of reference material* by J. D. Cowley (Grafton, 1937).

The Times Literary Supplement, and specialist papers of the quality of the *English Historical Review*, *Nature*, *Engineering*, *Connoisseur*, will be the most fruitful and reliable sources for current reference books. Valuable notes about new books are frequently included in Mr. Woodbine's monthly feature "Reference Libraries" in *The Library Association Record*, and in the similar feature by Mr. Shores in the *Wilson Bulletin*.

The principles of selecting first by range and then by appeal, as discussed in Chapter I, still applies. The specially local demands in a reference library will be more obvious than in a lending department containing some 50 per cent. of fiction, and where some 70 per cent. of the issues are fiction It should be our aim, too, to create demand A satisfied reader is our best advertisement, and this can only be achieved by providing the best material for his use.

In medicine and law there are highly specialist literatures with a limited use We should provide dictionaries of medicine and standard works of anatomy, physiology, etc., but not very technical treatises or particular medical research. Similarly only general legal works and books of law which are in great demand owing to local industry, business, etc , should be provided. It should be remembered that for books of law to be effective, it is necessary to keep the latest edition, and it is therefore an expensive section to keep up-to-date due to the comparatively high cost of law books and the frequency of new legislation.

In selecting reference books it is as well to ask ourselves whether this book is worthy of its class and subject. In cases of doubt, although some libraries do it as a regular practice, appeal may be made to specialists—university lecturers, professional men, etc. All selections by specialists, however, should be carefully edited by the librarian. A specialist is often liable to regard matters only in the light of his own subject, to propose books of such a specialist nature that they are of little value to the general public, or be very biased in favour of particular theories, etc , and frequently they have very little contact with the reading public.

As has been pointed out by Mr. Warner (in his *Reference Library Methods*) the public library should not purchase bibliographical rarities, except for the local collection It is as well to provide a few specimens of early printing and binding with modern examples of fine printing and binding, but the public library cannot afford to purchase books at prices which are inconsistent with their values as working tools.

As a last principle of book selection for reference libraries we should bear in mind that, as an ideal of public library service, in every town of reasonable size there should be a reference library, where citizens may find immediately available standard works on all but very specialised topics; where they may obtain information, or conduct research; or where they may spend time in quiet reading at will

Particular Subjects

The following notes indicate the scope of a reference library for the smaller towns of 50,000 to 100,000 population.

General Works. Encyclopædias, Press-guides, Bibliographies, Books about books.

Philosophy. The history of philosophy. A few outlines of philosophical systems. The work of standard philosophers—Locke, Bentham, Spinoza, Leibniz, etc. Important modern philosophers—Bertrand Russell. Manuals of logic and ethics. Represent the more important schools of psychology by the works of the original thinkers—Adler, Freud, Jung, McDougall, Spearman, Watson, etc , and a few manuals such as Woodworth's.

Religion Histories of religion. Hasting's *Encyclopædia.* The Holy Books of Christianity, Islam, Judaism. Bible commentaries and concordances. Life of Christ. Histories and handbooks of churches and sects.

Sociology. Encyclopædia of the social sciences Be careful of political science and economics as they "date," but represent the classical economists—Smith, Marshall, Pigou, etc. Guides to the law and income tax must be included, but beware of costly replacements to bring them up to date. Clarke's

Local Government and other handbooks of administration, educational handbooks and books on costumes and customs.

Language. Dictionaries, English and foreign. Grammars of the more important languages.

Natural Science. The astronomists—Eddington, Lodge, Einstein, Jeans, etc. A few textbooks of mathematics (Bertrand Russell), physics (Duncan and Starling), chemistry (Parkington, Mellor), geology (Geikie), botany (Fritsch and Salisbury, Strasburger). The classical authors—Darwin, etc. Cambridge *Natural History.*

Useful Arts. Spon, Henley, etc., on receipts. Patent specifications Standard medical works Handbooks on workshop practice. Dictionaries and handbooks of office work Manufactures (with particular consideration of local demands) Building construction (Twelvetrees, Mitchell). Dictionaries of gardening (Farthing, Wright, etc.).

Fine Arts. General histories of art, æsthetics Architecture (Banister Fletcher, Ruskin) Bumpus, and Thompson on cathedrals. Standard works on coins, woodcarving, furniture (Cescinsky), etc. Painters and painting, engravers and engraving. (Reproductions of paintings should not be smaller than quarto size and preferably in colour collotype.) Grove's *Dictionary of music and musicians.* Encyclopædia of sports.

Literature. The more important works of the classical poets, dramatists and novelists of all nations, aiming at completeness in so far as English authors are concerned. The best modern literature. Histories of literatures (English: Saintsbury, Legouis and Cazamian). *Cambridge History of English Literature* and of *American Literature. Who's who in literature.*

History and Geography. Directories, maps, atlases, gazetteers—English and universal. Muirhead's, and/or Baedeker's *Guides.* Victoria County Histories. Standard historical works of England and foreign countries (Green, Trevelyan, Cambridge histories, etc.). More topical historical books go in lending department, but include ones of outstanding merit or on important subjects—Somerville's *Reign of King George V*, Trotsky's *Russian Revolution.*

Biography. Who's Who, Dictionary of National Biography, Concise D.N B, Chambers' *Biographical Dictionary.* Some standard lives (Boswell, Pepys, Shakespeare, etc.).

Local and Special Collections

Local collection. The library should collect all material :

1. On or about the locality.
2. By local authors.
3. Printed or published locally.

This material is kept in the reference department unless there is a separate local room.

A full discussion in this subject is given in *Library local collections* by W. C. Berwick Sayers (Allen and Unwin, 1939).

Special collections. Some reference libraries contain special collections relating to some particular trade, industry, or personage, or other matter, usually of local importance. Obviously local conditions will prescribe the principles of book selection for special collections.

Special collections of holiday literature are to be found in many reference libraries. If they are included—and they are a valuable adjunct to the public service—they should be compiled systematically, kept up-to-date, and indexed.

CHAPTER VIII

BOOK SELECTION FOR COMMERCIAL, SCIENCE AND TECHNOLOGY LIBRARIES

Development of commercial, science and technology libraries — Scope of stock —Guides to selection —Commercial, scientific and technical periodicals

Development

In this section we are concerned only with commercial, science and technology libraries as part of the public library service. They may consist of the commercial section, comprising directories and similar ready-reference material, frequently to be found in the small library to the large separate departments in such library systems as Birmingham, Bristol, Coventry, Glasgow, Leeds, Liverpool, Sheffield, etc. In some places the commercial department is separate to the technology library, as at Birmingham, or the libraries may be combined as at Sheffield.

Though the commercial department was mooted at the beginning of the present century, few came into existence until just before the end of the Great War and many have developed in recent years. The incidence of the Great War, no doubt, expedited the formation of commercial libraries It was felt that the library service could assist the nation in putting its business affairs in order after the conflict by the provision of commercial libraries. The subject of the provision of commercial libraries

was also mentioned in the Report of the Ministry of Reconstruction.

SCOPE

The commercial, science and technology libraries are libraries instituted in response to specific local need, and the material supplied should be suited to satisfying that need. Obviously it would be ridiculous to provide a large collection of books on the woollen and textile trade in a library situated in a district devoted to steel manufacturing and allied trades.

What are the demands on such libraries? The business man may want such information as is supplied by the usual directories, tariff rates, commercial news, etc, and the scientist and technologist will require books on physics, chemistry, applied science, engineering, etc., and—and this is very important—a comprehensive selection of periodicals as the results of recent scientific research are usually first discussed in articles.

In order to understand the scope of the commercial department, the student cannot do better than to refer to the excellent handbooks issued by the Bristol, Liverpool, Southwark, and other public libraries. In these there will also be found details of the various types of Almanacs and Year Books, and Directories (trade, industrial, professional, inhabitants of Great Britain, telephone and telegraph, and international and foreign directories), which form an invaluable feature of the commercial department.

Scientific and technical dictionaries must be supplied freely. Examples are: Thorpe's *Dictionary of Applied Chemistry*, Scholman-Oldenbourg's *Illustrated Technical Dictionary in Six Languages*. Government publications and publications of such societies as the British Copper Research Association, British

Non-Ferrous Metals Association, the Refractories Institute, and American Marketing Association, must be considered. Many libraries will find it necessary to include English Patent Specifications, the Abridgements of Specifications (classified) and the [Patent] *Journal.* Some libraries also collect the America Patent Specifications. Local street maps, ordnance surveys, maps of foreign countries, street plans of the more important British and foreign towns and cities, commercial maps, road and railway maps and those depicting air and steamship routes, and other maps such as that of the Grid scheme of the Central Electricity Board.

Another valuable feature will be the provision of house journals (e.g Edgar Allen News), journals of the local Chamber of Commerce, and trade catalogues Lists of house journals appear periodically in *Advertising World*

As has been mentioned at the beginning of this section, books, etc., should be added to the commercial, science and technology libraries expressly in accordance with local demand and the book selection requires especial care and diligence as the material must be sought mostly in specialist periodicals. Important textbooks—if they are in frequent use—must be duplicated freely.

Guides to Selection

For the selection of the basic stock reference will have to be made to the usual general guides and aids to book selection—*Cumulative Book List*, Sonnenschein, Philip's *Best Books of the Year*, etc. There are also more specific guides to scientific and technical literature, such as the *Select List of Standard British Scientific and Technical Books*, 1937, published by

ASLIB ; the *Catalogue of British Scientific and Technical Books*, 3rd edn., 1930, published by the British Science Guild ; Roberts' *Guide to Technical Literature*, 1939 ; and the current *Programme* of the Department of Technology of the City and Guilds of London Institute. There are also the special guides such as Crane and Paterson's *Guide to the Literature of Chemistry*.

Whilst the catalogues and announcements of publishers specialising in scientific and technical literature must be closely watched, the most fruitful guide to book selection will be the reviews in specialist periodicals such as *Economica*, *Science Progress*, *Nature*, *Engineering*, *Electrical Review*, etc

At intervals, supplements of "Reviews and forthcoming books" are issued with *Nature*, in which periodical there is always a monthly supplement of "Recent scientific and technical books" arranged under broad subject headings, with accurate bibliographical information

Mention has been made above of the importance of having a comprehensive range of scientific and technical periodicals in view of the up-to-date material contained therein, and for this reason a select list of these, which may be adapted to local needs, is given at the end of this chapter. In connection with periodicals *The Industrial Arts Index* (H. W. Wilson Co.) will be found most useful It is a monthly cumulative subject index to over 237 engineering, trade and business periodicals, and also about 4,000 books and pamphlets are included each year. Professional papers (*Nature*, *Lancet*, *Engineering*, etc.) should be bound, but those of a more popular or transitory nature (*Wireless World*, *Yachting Monthly*, etc.) need only be kept for a few months. Timetables obviously need not be kept.

The quarterly ASLIB *Booklist* is valuable to the commercial library for checking purposes only, for by the time it is issued the books should have been purchased.

The American *Technical Book Review Index* is issued monthly, except July and August, and is particularly valuable as an aid for selecting American and foreign books, though most English works have been procured by the time this is published. It is an alphabetical author list with a cumulative subject index. Excerpts from reviews are given, together with an indication as to whether the review was favourable or otherwise.

The actual commencement of book selection for commercial, science and technology libraries must lie in the checking of publisher's catalogues, the *Bookseller*, the *Cumulative Book Index*, and similar works in accordance with the method described in Chapter IV; whilst as a round-off to our selection we should check the lists issued by libraries and societies. Croydon, Coventry, Sheffield, etc, issue lists of recently acquired scientific and technical books. There is also the *Weekly Bibliography of Pure and Applied Science*, issued by the Science Museum Library, *New Technical Books* issued quarterly by the New York Public Library, and *Technical Books of 19—* issued annually by the Pratt Institute. Year-books of scientific and technical societies and school and college syllabuses may be profitably studied.

In many cases books will have to be purchased on the strength of the review. Certain publishers have a reputation for sound technical works, whilst others are not so careful about including the date of publication or of publishing so-called new editions. It is as well to recruit specialists who are in a position

to advise as to the importance of technical publications. Occasionally, particularly when there is nothing else on the subject, books in foreign languages will have to be purchased.

A SELECT LIST OF COMMERCIAL, SCIENTIFIC AND TECHNICAL PERIODICALS

Periodicals and Newspapers	*When Issued*
A B C Railway Guide (London)	M
Accountant	W
Advertiser's Weekly	W
Advertising and Selling	F
Advertising Monthly	M
Advertising World	M
Aeroplane	W
Agriculture	M
Aircraft Production	M
Alloy Metals Review	M-2
American Chemical Society : Chemical Extracts	Bi-M
American Chemical Society Journal	M
American Gas Assocn Monthly	M
American Gas Journal	M
American Society for Metals Transactions	Q
American Society of Mechanical Engineers : Transactions	M
Analyst	M
Architect and Building News	W
Architects' Journal	W
Archiv fur das Eisenhuttenwesen	M
Art and Industry	M
Australasian Manufacturer	W
Autocar	W
Automobile Engineer	M
Baker and Confectioner	W
Bank of England Statistical Summary	M
Bank of London and S. American Fortnightly Review	F
Bankers' Magazine	M
Barclays's Bank Monthly Review	M
Beama Journal	M
Birmingham Met Soc Journal	Q
Blast Furnace and Steel Plant	M

Periodicals and Newspapers	*When Issued*
Board of Trade Journal	W
Bradshaw's Continental Guide	Irreg.
Bradshaw's International Air Guide	M
Bradshaw's Railway Guide	M
British Baker	W
British Chemical Abstracts	M
British Clayworker	M
British Dental Journal	F
British Engineer	M
British Industries	M
British Machine Tool Engineering	M-2
British Medical Journal	W
British Plastics	M
British Printer	M-2
British Steelmaker	M
British Trade Journal	M
Builder	W
Building Science Abstracts	M
Building Times	M
Bus and Coach	M
Business	M
Cabinet Maker	W
Canadian Patent Office Record	W
Caterer and Hotel Keeper	W
Cement and Cement Manufacture	M
Cement, Lime and Gravel	M
Certified Accountants' Jnl.	M
Chemical Age	W
*Chemical and Met. Engineering	M
Chemical Society Journal	M
Chemical Trade Journal	W
Chemist and Druggist	W
Chemistry and Industry (Jnl of the Soc of Chemical Industry)	W
Civil Engineering	M
Claycraft	M
Clerk	Q
Clerks of Works Assocn Jnl.	M
Coal Merchant and Shipper	W
Cold Storage	M
Colliery Engineering	M
Colliery Guardian	W
Commercial Motor	W
Company Accountant	Q

Periodicals and Newspapers	*When Issued*
Concrete and Constructional Engineer	M
Confectionery Journal	W
Confectionery News	F
Contract Journal	W
Contractors' Record	W
Corporate Accountant	Bi-M
Cost Accountant	M
Cotton	W
Coventry Engineering Soc Jnl.	M-2
Dairyman	M
Decorator	M
Demag News	M
Discovery	M
Drapers' Record	W
Drop Forger	Q
Dyer	F
Economic Journal	Q
Economica	Q
Economist	W
Edgar Allen News	M
Education for Commerce	M
Efficiency Magazine	W
Electric Welding	M-2
Electrical Power Engineer	M
Electrical Review	W
Electrical Times	W
Electrical World	W
Electrician	W
Electrodepositors' Tech. Soc Jnl.	Y
Engineer	W
Engineering	W
Engineering and Boiler House Review	M
English Electric Journal	Q
English Mechanic	W
Estates Gazette	W
Faraday Society Transactions	M
Farmer and Stock-breeder	W
Financial News	D
Financial Times	D
Fish Trades Gazette	W
Flight	W
Food Manufacturer	M
Food Processing, Packing and Marketing	M
*Foundry	M

Periodicals and Newspapers	*When Issued*
Foundry Trades Journal	W
Fruit, Flower and Vegetable Trades Jnl	W
Fuel Economist	M
Fuel Economy Review	Y
Fuel in Science and Practice	M
Furnishing Trades Organizer	M
Furniture Record	W
Gas and Oil Power	M
Gas Journal	W
Gas World	W
Geological Society Journal	Q
German Industrial Echo	M
Goldsmiths' Journal	M
Great Western Railway Guide	Irreg.
Grocer and Oil Trade Review	W
Grocery	M
Guaranty Survey	M
Hardware Trade Journal	W
Heat Treating and Forging	M
Heating and Ventilating Engineer	M
Highways and Bridges	W
Hosiery Trade Journal	M
Hotel Reviews	M
Hutchinson's A-Z Time Table	M
Ideal Kinema	M
Illustrated Carpenter and Builder	W
Imperial Airways Gazette	M
Imperial Institute Bulletin	Q
Incorporated Accountants' Journal	M
India-Rubber Journal	W
*Industrial and Engineering Chemistry	M
*Industrial and Engineering Chemistry Analytical Edition	Bi-M
*Industrial and Engineering Chemistry, News Edition	F
*Industrial Arts Index	M
Industrial Chemist	M
Industrial Gases	Q
Industrial Heating	M
Industrial Welfare	M
Institute of Bankers Jnl	M
Inst. of Book-keepers' Jnl.	Q
Inst of Brewing Journal	M
Inst. of Civil Engineers, Engineering Abstracts	Q

Periodicals and Newspapers	*When Issued*
Inst. of Civil Engineers Jnl	M
Inst of Electrical Engineers Jnl	M
Inst. of Mech Eng. Proceedings	Q
Inst of Metals Monthly Jnl	M
Inst of Mining and Metallurgy Bull	M
Inst of Production Engineers Jnl	M
International Accountants' Journal	M
Inst. of Mining Engs. Trans	M
International Labour Review	M
Inventor	M
Investor's Chronicle	W
Iron Age	W
Iron and Coal Trades Review	W
Iron and Steel Engineer	M
Iron and Steel Industry	M
Iron and Steel Institute Bulletin	M
Iron and Steel Institute Journal	M-6
Jnl. of Applied Mechanics	Q
Jnl of Commerce	Bi-W
Jnl of Decorative Art	M
Jnl. of the Royal Technical College	Y
Kinematograph Weekly	W
Labour Gazette	M
Labour News	W
L. and M News	M
Lancet	W
Law Times	W
Leather Trades Review	W
Light and Lighting	M
Light Metals Research	F
Light Metals Review	F
Links	Bi-M
Lloyd's Bank Monthly Review	M
Lloyd's Import Duties List	Irreg.
Lloyds Loading List	W
Local Government Jnl.	M
Locomotive	M
L & N E Railway Guide	Irreg
L N E.R Continental Services	Irreg.
London Gazette	Bi-W
L.M & S Railway Guide	Irreg
*Machine Design	M
Machine Tool Review	Bi-M
Machinery	W

Periodicals and Newspapers	*When Issued*
Machinery Market	W
Machinist	W
Manchester Guardian Commercial	W
Marine Engineer	M
Marine Models	M
Meat Trades Journal	W
Mechanical Engineering	M
Mechanical Handling	M
Mechanical World	W
Men's Wear	W
Mercantile Guardian	M
Metal Industry	W
*Metal Industry New York	M
Metal Progress	M
Metal Treatment	Q
Metallurgia	M
Metallurgist	Irreg
*Metals and Alloys	M
Metals Technology	M
Metropolitan-Vickers Gazette	M
Midland Bank Monthly Review	M
Milling	W
Mine and Quarry Engineering	M
Mining and Metallurgical Soc of America Bull	Irreg
Mining Journal	W
Ministry of Agriculture Journal	M
Ministry of Labour Gazette	M
Model Engineer	W
Modern Machine Shop	M
Monotype Recorder	M-2
Motor	W
Motor Cycle	W
Motor Ship	M
Motor Transport	W
Municipal Engineering	W
Municipal Journal	W
Municipal Review	M
National Geographic Magazine	M
National Smoke Abatement Soc. Jnl	Q
Nature	W
Newspaper World	W
New Zealand Patents Jnl	M
Nickel Bulletin	M
Occupational Psychology	Q

Periodicals and Newspapers	*When Issued*
Oil and Colour Trades Jnl.	W
Oriental Economist	M
Overseas Engineer	M
Oxy-acetylene tips	M
Paper Maker & Brit Paper Trade Journal	M
Paper Market and Printing Technique	M
Passenger Transport Jnl	W
[Patent] Journal	W
Petroleum Times	W
Philips Technical Review	M
Pitman's Business Education	W
Pitman's Office Training	W
Plumber	M
Plumbing Trade Journal	M
Post Magazine and Insurance Monitor	W
Post Office Guide	Q
Pottery Gazette	M
*Power	M
Power and Works Engineer	M
*Printers' Ink Monthly	M
Printers' Register	M
Proceedings of the Prehistoric Society	M-6
Quality	M
Quarry Manager's Journal	M
Queensland Govt Mg Journal	M
Railway Gazette	W
Railway Magazine	M
Refractories Journal	M
Reports of Patent, etc Cases	Irreg.
Revue de Metallurgie	M
Revue du Nickel	M-2
Roadway Time Table	Irreg
Rotary Wheel, The	M
Royal Aeronautical Society Journal	M
Royal Bank of Canada	M
Royal Entomological Soc Proceeds & Trans	Irreg.
Royal Institute of British Architects Journal	F
Royal Inst of Gt Britain Proceed	Irreg
Sales and Wants (Printers)	M
Sands, Clays and Minerals	Irreg.
Science Abstracts	M
Science and Art of Mining	F
Science Progress	Q
*Scientific American	M

Periodicals and Newspapers	*When Issi*
Secretary	M
Sheet Metal Industries	M
Shipping World	W
Shoe and Leather News	W
Shoe and Leather Record	W
Smokeless Air	Q
Society of Dyers and Colourists Journal	M
Soc of Engineers Journal	Q
Soc of Glass Technology Jnl	Q
Southern Rly Time Table	Irreg
Stahl und Eiseon	W
Statist	W
Steam Engineer	M
*Steel	W
Stock Exchange Gazette	W
Stone Trades Journal	M
Surveyor	W
Television	M
Textile Weekly	W
Timber News and Machine Woodworker	M
Timber Trades Journal	W
"Times" Law Reports	W
"Times" Trade and Engineering	M
Tobacco	M
Trade Marks Journal	W
Transport World	W
Wales and Monmouthshire	Q
Waste Trade World	W
Watchmaker, Jeweller, Silversmith and Optician	M
Welder, The	M
Welding Industry	M
Westminster Bank Review	M
Wire Industry	M
Wireless Engineer	M
Wireless World	W
Wood	M
Woodworker	M
*Woodworker (American)	M
Wool Record and Textile World	W
World's Fair	W
Yachting Monthly	M
Zeitschrift fur Metallkunde	M

Those marked * are American

CHAPTER IX

BOOK SELECTION FOR CHILDREN'S LIBRARIES

Percentages of stock according to age —Guides and principles of selection —Censorship —Format.—Periodicals.

THE importance of a sound book selection policy for children's libraries cannot be over-emphasised. As has so often been remarked the children of to-day are the adults of to-morrow, and especial care should be taken in directing their reading during their formative years. Again, it is possible that bad impressions gained of a library service during childhood are likely to affect the use of the adult departments during maturity.

The selection of children's books should be as soundly organised as the selection of adult books, as described in earlier chapters, and not a haphazard selection supplemented by a pick from the remainder bag.

The best books should be duplicated freely, rather than provide other—but inferior—titles, for children pass comparatively rapidly through each reading stage.

Throughout our book selection for children's libraries it is essential that we bear in mind that the juvenile library is the training ground for the adult departments. It is therefore important that that

apprenticeship be conducted on sound lines, for we hope that one day the child will be an intelligent and valued reader in the adult library

PERCENTAGES OF STOCK ACCORDING TO AGE

Particular attention should be paid to the selection of books for younger children (*i.e.*, those under nine years of age) Also, it is important that the break between juvenile and adult departments be not too severe. The question of book selection for the adolescent department will not be discussed here, not that the writer disagrees with the existence of adolescent libraries, but rather that adolescent library book selection has been fully discussed in Mr. Eric Leyland's book on that subject. Percentages of stock in a juvenile department suggested by Mr. Berwick Sayers in *A manual of children's libraries* (Allen and Unwin, 1932) are:

60 per cent. of the whole stock for children aged 9-13 years.
20 per cent. of the whole stock for children under 9 years.
20 per cent. of the whole stock for children over 13 years.

Of the whole stock about 60 per cent. will be fiction

GUIDES AND PRINCIPLES OF SELECTION

In the building up of a junior library stock considerable attention should be paid to the catalogues of other children's libraries Those of Bethnal Green, Dagenham, Glasgow, St Marylebone and Sheffield are particularly worthy of consideration. In addition

to the general bibliographies there are the H W. Wilson Co.'s *Children's Catalog;* Field's *Guide to literature for children; Books to Read* and *Books for Youth,* issued by the Library Association; Faraday's *Twelve years of children's books;* and the lists issued by the National Book Council. These, and other catalogues and guides, have been fully described in Chapter II.

Reviews of current books are not particularly plentiful. Publishers' catalogues must, of course, be studied. A small section in the *Times Literary Supplement* is devoted to reviews of books suitable for children, but we are now fortunate in having a quarterly journal which is devoted entirely to children's books. It is *The Junior Bookshelf.* The proprietors of this paper also issue an annual list of best books

Although as a general rule school text-books are best not supplied by the library as they require to be retained for a considerable period to be of much value, a certain number of standard books on most subjects should be available. Children should have access to Unstead and Taylor's, or similar, book on geography, the classic authors, and other elementary works; although whether these are supplied in the children's reference room or through the adult library is a matter for local administration. The encyclopædias specificially intended for children (Mee's, Cassell's, *The Children's Treasure House,* etc.) should be in the children's reference library together with, if possible, *Everyman's encyclopædia,* or *Chambers' encyclopædia.*

It is open to question whether homework in the library should be encouraged, but most librarians are in favour of it, particularly in view of the increasing difficulties (owing to radio, etc.) of it being

done satisfactorily at home, and furthermore the use of reference material is definitely a thing to be encouraged. For this reason therefore more attention than is usual should be paid to providing children with a representative reference collection—not merely encyclopædias, dictionaries, etc., but standard works as well.

In the realms of fiction we find an ever present demand, from the average child, for school stories, adventure stories, etc. As long as the books supplied in response to this demand are reasonable in their account of the hero's or heroine's adventures, do not antagonise other nations unduly, nor ridicule man, we should not be alarmed, for the demand is a healthy one consequent upon the instincts of the children concerned. And who are we to say that an instinct is unhealthy? The child to-day is born with the same instincts as the savage of two thousand years ago, and during the contemporary child's formative years he, or she, is being caught and tamed by civilisation. The effects of some two thousand years are crammed into the first ten years or so of the child's life Civilised we may be, and civilised we may intend our children to be, but the combative, etc., tendencies are still there and by being able to read themselves into the story the children are able to sublimate many of their energies which would perhaps be socially undesirable at present if they should do in real life what the books enables them to do in imagination.

Since children pass through each reading age quite rapidly there is no need for a very large range of titles, but since the standard of taste inculcated in the child forms the basis of all future work it is important that the quality should be high

Censorship

Connected with this question is the question of censorship The censorship of juvenile books is rarely a moral one—moral, that is, in its present restricted sense of sexuality. In so far as a book is a fair approximation to the truth it should not be censored, provided the topic is considered suitable for children to read A particularly gruesome, yet true, account of modern warfare should be excluded, but similarly an untruthful account of warfare which describes it as an ennobling sort of job often with the British, usually, under withering fire, riding down the enemy at the point of the bayonet should not be in a children's library.

Format

The importance of good paper, type, and illustrations for juvenile books should always be recognised. This is usually only apparent by an actual handling of the book and for this reason juvenile books should always be obtained on approval. Alternatively, in the larger towns it is frequently possible to examine juvenile books at the shops of the local booksellers ; although it is worthy of note that at Sheffield a permanent display of juvenile publications is provided in connection with the children's library Publishers send their books for this exhibition, and parents, teachers, and others are at liberty to consult them.

The general principles of good book production given in Chapter III should apply The books should certainly not be larger than quarto owing to difficulties of transport by children, though this is only an ideal at present Paper should be good and not the pulpy variety which has poor lasting qualities,

is unæsthetic (and this is an important point when considering the fostering of young minds), and is used chiefly on account of its cheapness and bulk, which makes a small book appear much larger than it actually is. Art paper in view of its heaviness and poor wearing qualities is undesirable, and also because it is particularly liable to become dirty.

In books for very young readers, the printed page should be small and the type large, but in books for children of about 11 years of age and over the sizes of type and paper should conform more closely to those of adult books. Certainly the type should never be less than 11 point.

Illustrations should be graphically truthful and the degree of difficulty of comprehension adjusted to the age of the child for whom the book is intended. For instance a child of 9 may be interested in a picture of any motor-car, but the child of 13 is more likely to be interested in how it works. Simple explanatory diagrams are often more useful and personal and relevant to the text than many photographic reproductions. A recent example of this, though in a book intended rather for adults, is Van Loon's *Arts of Mankind.*

Periodicals

A fair selection of periodicals should be available. In addition to the usual *Children's Newspaper*, *My Magazine*, etc , others dealing with wider aspects of life should be included. Many children are interested in engineering, electricity, radio, stamp collecting, etc , and will be interested in magazines dealing with these. Others showing travel in various parts of the world and pictures of current events should be provided

A select list of periodicals suitable for a juvenile library is given below.

Periodicals and Newspapers	*When Issued*
Aero-Modeller	M
Armchair Science	M
Boy's Own Paper	M
Children's Newspaper	W
Countryside	Q
Girl's Own Paper	M
The Guide	W
Hobbies	W
Meccano Magazine	M
The Merry-go-round	M
Pictorial Education	M
The Scout	W
Stamp Collecting	W
Woodsmoke	M
The Young Musician	M

A good illustrated weekly such as "The Illustrated London News," or "The Sphere," is also very useful, and experiments might quite well be made with introducing periodicals of the amateur mechanics type—radio, motoring, etc.

CHAPTER X

BOOK SELECTION FOR BRANCH LIBRARIES

Centralisation —Basic stock —Exchanges of stock.—Reference service

Centralisation

Lending library book provision has been discussed in Chapter VI, and this chapter, therefore, will be confined to the general aspects relating to branch libraries.

The selection of books for a branch library is mainly dependent upon two factors :

1. The population in the area which the library serves
2. The relative position of the central library.

The former factor revives the question of the reading interests of the community and has already been discussed, whilst the latter affects the problem whether a basic stock should be provided

Regarding the latter, we will assume that the system is centralised and that, upon due request, any book in the system may be obtained at any branch. This, then, will enable us to rely on the central library for books for which the demand does not justify a place on the shelves at a branch Just how far this policy may be carried out is purely a question of expediency As an arbitrary rule, if a book has had to be obtained on special loan from

central, or any other library within the system, three times or more in six months we should seriously think of purchasing a copy for the branch making the requests.

Basic Stock

The writer's feeling is that whilst a branch library should on no account possess a basic stock as such, there should be a basis of "good" books in each branch The branch stock should not consist only of ephemeral and topical books. Books should be available for the reader desiring information of a general nature or an introduction to any well-known subject Further, as has been said by other writers—and with considerable justification—"good" books give "tone" to the library. Thus, books like Trevelyan's *History of England*, Banister Fletcher's *History of Architecture*, Woodworth's (or similar alternative) *Psychology* and a representative collection of English poets and dramatists should be on the shelves Notwithstanding, we should beware of penalising our readers inasmuch as we might be tempted to stock a certain standard book, whereas another might be more suitable owing to its being recommended for examination purposes or heavily advertised by the publishers.

The objection to providing a 100 per cent. basic stock at a branch is that the shelves will be full of little used and dead material, and that when such books are needed they can be loaned from another library in the system—thus allowing the book fund to be used to greater advantage.

The exception to this rule is when the branch is situated amongst a public which will make particular demands upon certain well defined sections of the book

stock. It is usual, for instance, for considerable demands to be made upon the technology section of a branch situated in the industrial side of a town, whilst a branch in a residential area is likely to require many accountancy and business text-books, etc.

Exchanges of Stocks

In the case of the smaller branches an attempt should be made to provide a continuous supply of fresh stock. This may be done in three ways:

1. Increase the book fund for the branch
2. Completely change the stock of the branch at intervals.
3. Plan a system of exchanges similar to those in operation in county library systems.

The objections to 1 are firstly the impossibility of having such a large book fund, and secondly that the comparatively small number of borrowers at the branch will hardly do justice to the stock and that the stock will not receive adequate use.

The objections to 2 are that there is a large number of books which should be in each library, and also the colossal amount of labour involved in transferring the records consequent upon a complete change over

The best method is to evolve a system of partial exchanges at regular, say quarterly, intervals. This may be done on the lines of Mr. Oliph Smith's paper "Planned economy in book selection" given before the 1934 Library Association Conference and which is described in Chapter XI; or according to the scheme of Mr. T. E Callander which is designed specially for urban libraries. This latter is described in "Mobilizing Stock in Municipal Branch Libraries" (*Library Association Record*, June, 1938). The method

involved is to allocate some books to " unit " collections of which 100 books can be transferred *en bloc* from branch to branch at regular intervals. Mr. Callander continues " Each unit is given a distinguishing number, which is carried in bold red figures on the date label of the individual books in each unit. During the fourth month it is called in, and at the end of four months the unit is returned complete to headquarters, where it is overhauled, individual books being repaired, rebound or replaced if necessary. The reconditioned unit is then sent off to a second branch for a further circulation period of three months, returning to headquarters every four months. One hundred books have been chosen as the number for a unit because, on the one hand, the arrival of a unit of this size at a branch makes an appreciable difference to the stock, while, on the other, the unit is small enough to be handled easily and quickly in transit and at headquarters.

" When a unit is assembled from existing stock, that is from books which have previously been permanently allocated to a library and have been accessioned and catalogued to show their permanent allocation, it is necessary to adapt existing records, and to do this as easily and quickly as possible. The stock register, first, is corrected by stamping the entry for each book transferred to a unit with a rubber stamp saying, ' This book is part of Unit No. 99.' Statistics of stock are kept balanced by including the number of books transferred to units in the number of books withdrawn from stock, and then adding to the net stock figure the number of books added to units. . . .

" One or two refinements of the system may be mentioned It has been found, in practice, that it is not always possible to find a hundred new books

at one time to start a new unit. In such a case, a unit is sent out as a quarter, half, or three-quarter unit for the first time. On its first transfer, it is made up to the full complement of a hundred books by the addition of such new books as are then available. Units may be made up according to the fancy of the librarian. Thus, one may try, by experiment, to find a standard recipe for the perfect unit, so many travel, so many biography, and so on in the hundred. One may make up all-fiction units, or special collections devoted to a particular subject, topical units and so on. The system seems, in fact, to be so flexible as to be readily adapted to suit local needs and tastes."

Reference Service

There is no justification for providing a reference service at a branch which in any way attempts to compete with the central reference library unless—and this is very unlikely—transport facilities to the central library are bad, or the distance to the central is too great. A study room may be provided at the branch, but it should not be filled with classics unless they are likely to be used. However pleasing a collection of books may be to a librarian, he should remember that the study room is a workshop to be used and the books are not included for ornamental purposes

The reference collection should be confined to ready reference books and to books of a general type, as given at the end of this chapter. Specialised reference books, such as Palgrave's *Dictionary of political economy* and Glazebrooke's *Dictionary of physics*, should be in the central reference library.

The methods of selecting books for a new branch library are discussed in Chapter XIII.

TWENTY REFERENCE BOOKS FOR A BRANCH LIBRARY

*Encyclopædia Britannica (or, Chambers', or Everyman).
*Whitaker's almanac.
*Shorter Oxford English dictionary (or, Concise Oxford dictionary)
*Cassell's German dictionary.
*Cassell's French dictionary
Hare Short Italian dictionary
Appleton's new Spanish dictionary
Smith Small Latin dictionary
Liddell & Scott Greek dictionary
*Black's medical adviser
Oxford companion to English literature.
Benham New book of quotations.
*Philips' international atlas
Bacon. Atlas of Great Britain and Ireland
*Telephone directories
*Road, rail and air time-tables
*Kelly's directory of [the locality]
*Who's who
*Chambers' biographical dictionary
Low & Pulling. Dictionary of English history

(Twelve essential reference books are marked * The others may be purchased if funds permit, and if potential or actual demand justifies their inclusion.)

CHAPTER XI

BOOK SELECTION FOR COUNTY LIBRARIES

Aims and purpose of county libraries.—Regional branches —Book stocks—general and students' sections —Sizes of book stocks —Duplication.—Local collections —Selection for branches and centres —Reference departments —Children's libraries.—Suggestions and requisitions

Aims and Purpose of County Libraries

As a preliminary to discussing the principles of book selection for county libraries we may well first consider the aim and purpose of a county library system

County libraries were first envisaged to provide books for rural communities, though the Libraries Act of 1919 provided that authorities which had not already adopted the Libraries Acts prior to their adoption by the County Council might be included in the county library schemes It is possible for authorities within the county library schemes to contract out thereof, purely in the interests of an improved service, on the application of the County Council, to, and with the permission of, the Board of Education and for existing library authorities to rescind their library powers in favour of the County Council subject to the approval of the Board.

After some years of development of the county library schemes it became apparent that there were

many small independent library authorities in towns which could be better served as parts of the county schemes. Some of these authorities were willing to rescind their library powers in favour of the County Council, others were not so willing and have refused to do so. Thus one often has the anomaly of a County Council being the library authority for one town, whilst a smaller town, or even parish, in the same county, is its own library authority.

Another anomalous position has arisen over the London suburban library systems. Essex, Kent, Middlesex and Surrey all have county library systems which contain large suburban areas. For instance, Middlesex includes Harrow, Southgate and Wembley, with populations of (1931) 27,000, 60,000 and 115,000 respectively, in the county library area, whilst the Essex [county library] area includes Hornchurch and Romford with estimated populations of 80,000 and 40,000 respectively. Since the authorities for these areas had not become library authorities by the date of the adoption by the County Councils of the Libraries Acts, it was only natural that the County Councils included these urban areas within their jurisdiction. Since that time, however, their growth has been so great that one is now tempted to ask why one borough should be administered by a county and the next by an urban authority.

At any rate, surely, the principles of book selection—and this is our immediate interest—will not vary greatly. Thus Romford and Hornchurch are bounded by the urban library authorities of Dagenham and Thurrock (Thurrock is a newly constituted authority which formerly consisted of the Urban Districts of Grays, Tilbury, Purfleet and the Rural District of Orsett, all of which—except Grays—were in the

county library area. In fact, it is the most recent—and a rare—example of a County Council rescinding its powers in favour of the local authority) ; and Wood Green, Edmonton, Enfield, Finchley, Hendon, Willesden, Ealing, and Heston and Isleworth are contiguous to Southgate, Friern Barnet, Wembley, Harrow, and other areas within the Middlesex County Libraries system.

Regional Branches

In rural library areas remote populations have usually been served by centres established in village schools, institutes, etc , and more rarely by library vans of the exhibition type. There is now additionally a noticeable tendency to establish regional branches in market towns. Transport facilities are much better than they were in the early days of the county library schemes and many country dwellers regularly visit the nearest market town for shopping ; the superiority of having permanent libraries in accessible places (and with comparably larger book stocks) than small collections in the village school or library van are obvious County library authorities are appreciating, too, the superiority of the service which can be provided by full-time branches, well planned and with professional staff, as compared with the somewhat erratic centres run by voluntary helpers in village schools, etc , although there seems no possibility of such centres being superseded ; rather will they be supplemented. At branches much more comprehensive book stocks can be provided, and the libraries can be run in the best traditions of an urban service.

Such a policy of regional branches will inevitably have considerable effect on the book selection policy

of the county libraries concerned. In a small village centre with a very limited stock of books, they must all or nearly all be of a type with a fairly general appeal. This for two reasons Firstly, because the size of the collection and the accommodation available will seldom allow of an adequate selection for the general reader in any case . secondly, because in a small community there is not likely to be more than one or two people possessing any particular interest. In any county, therefore, which serves its public chiefly through village centres, the stock must tend to be built up on "general-appeal" lines, since there is little opportunity to bring before the public works appealing to people with special interests

The position is considerably changed when regional branches are established. Stocks can be large enough to possess that desirable balance between general and special appeal which is looked for in the normal municipal library, while each such branch serving an area of from 80 to 300 square miles includes within its orbit sufficient potential borrowers specialising in any particular subject as to render the provision of books thereon possible and desirable.

In the 1937-38 Annual Report of the Herefordshire County Libraries there was included a map which admirably illustrates this argument, and an up-to-date copy is therefore reproduced herewith by courtesy of the Library Committee of that County. (Fig 3) This shows both the market towns of the County (those which are named) and the villages in which centres are established ; regional branches are indicated by solid squares, while village centres appear as circles. Where these circles are solid, people from the villages concerned borrow also from

the regional branch to which the village is joined by an unbroken line. Hollow circles indicate that no borrowing is done outside the village, and are joined to one or more market towns by broken lines Shaded areas are those of independent library authorities.

It is usual for the County Council to levy a rate to cover the supply of books and staff salaries, but, in some cases, if a superior service is required a differential rate may be levied upon the local authority concerned. This practice is dying out, and the majority of County Councils probably levy a flat rate over the whole of the county library area. Obviously this latter is the only satisfactory method where a regional branch policy has been adopted

Thus a county library may serve :

1. London and provincial suburban areas.
2. Towns of all types and sizes up to say 30,000 inhabitants.
3. Villages, hamlets and remote areas.

Differential or flat rating may be in force. Naturally, all these factors in so far as they relate to any particular county must be taken into account when considering book selection for county libraries.

Book Stocks—General and Students' Sections

Many county librarians find it convenient to divide their book stock into :

(*a*) Students' books, and
(*b*) General stock ;

although with the increase in the number of branches, and the generally wider interpretation of the scope of the " Students' service," this division is rapidly breaking down. The " Students' books," which used
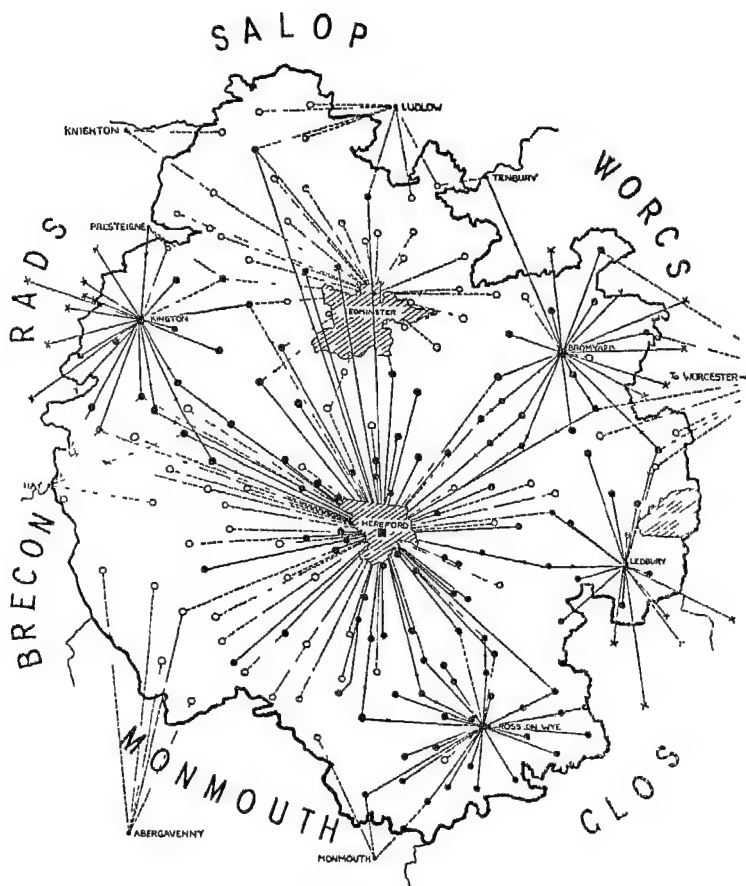
Fig. 3.—Herefordshire County Libraries—Regional branches

to be kept at headquarters are now mostly distributed among the branches.

With one important exception the principles of book selection for county library branches in urban and London surburban areas should not differ to any marked extent from the principles which obtain in comparable libraries run by urban library authorities The exception is that little-used books, which would need to be stocked by each urban library system will only be stocked in single copies by county library systems, and need not be kept at each branch, or even in each district served. Thus an urban district or borough must rely on the resources of its own library system for many works which, were it served by the county scheme, need not be stocked locally, there being the county library headquarters to call upon Further, there are very many books which have to be stocked by each independent, though neighbouring, urban library authority, whereas one copy would be sufficient for several towns.

In county library branches there will be lending departments, and there may or may not be reference departments, children's departments and sometimes reading rooms, although occasionally the latter will be combined with the lending department. Much of the more specialised reference work could, and should, be centralised at headquarters, with a consequent saving in cost. Local reference collections should concentrate on quick-reference works and special local interests.

In rural counties and in counties which contain rural areas rather different principles obtain. It has been remarked that the chief function of a county library is to provide "a good book for mother" There is a very considerable amount of truth in

that statement The printed word must help to make up for the lack of amenities in the way of cinemas, theatres and other distractions of town life. On the whole, also, country dwellers work for longer hours than do their town cousins, and consequently the male element have little time available for reading. They usually prefer, possibly to atone for the loneliness which often is the lot of the rural worker, to spend their leisure in company rather than with a book The village inn is preferred to the fireside. " In a society which quite inadequately educates its land-workers, and then rewards them with a wage of often no more than thirty-five shillings a week, an appreciation of craftsmanship in literature can scarcely be anticipated . . . County libraries are still very much in the initial stages of their existence and their public have not behind them that tradition of reading and the use of libraries which exists in the towns. The primary aim of the county librarian must be the provision of an adequate service to the whole of the area, the attraction of an increasingly large proportion of the population as borrowers, and the retention of those attracted by an inducing of 'reading habit.' And since most of those attracted will have read nothing but the paper since leaving school, their appreciation of books will be that of boys or girls of fourteen, as modified by our enlightened Press The result usually resolves itself into an overweening interest in violence and passion." (Smith, B. O Policy in the rural county *Library Association Record*, October, 1938.)

Students and more serious readers are supplied through a special service known as the students' section, part of which is kept at the headquarters of the county library system and part dispersed amongst

the branches according to local needs; though in many counties books are sent to the borrower from wherever they happen to be—headquarters, branch or centre. Certain anomalies are apparent in these schemes. A student may probably, for example, borrow the Cambridge histories for home-reading, yet such would not be allowed if the book were in the reference department of an urban public library. This is, of course, answered by the fact that the demands on such books are less in the county than in the urban library, and, unless the student happens to live near the county library headquarters or a branch, he could only have it for home-reading. The aim of public libraries in general is to provide the public with books, recreational and otherwise, and provided this aim is satisfactorily achieved we should not approach the county library from a biased standpoint and say that such and such a thing is not done in an urban library. With lower standards of education and few or no alternative sources of supply in rural districts, it is necessary to supply through the Postal Service many books which in urban areas would be deemed outside its scope, as being too ephemeral. This is an important point. Where resources permit rural counties usually place a wider interpretation on the scope of this service than in more sophisticated areas.

Sizes of Book Stock

Bearing in mind this general consideration of the problems of a county library service to-day we may study the more practical aspect of book selection. On the whole the percentages of stock and according to the Dewey main classes, as detailed in Chapter III, but inasmuch as there will be a greater ratio of

popular and recreational books to specialised and informational ones than in an urban library, for reasons already given, the strengths of the Dewey classes will vary correspondingly. They will vary as from an industrialised county to an agricultural one and even within the same county from a branch library in a suburban area to a branch library in a market or industrial town.

In view of the facts that in a county library:

(i) The book stock is split up into numerous small units;
(ii) A pool stock, which has been estimated at approximately 25 per cent of the total stock, has to be maintained at headquarters to work the exchanges;

the book stock should not be less than 100 books per 100 population, but in any case this number will vary with the population served and should increase as this diminishes. It will certainly need to be not less than 100 books per 100 of population, where the latter totals less than 100,000, and it seems highly probable that in a very few years even these standards will be regarded as too low.

Duplication

Possibly one of the most important features of county library book selection is the degree of duplication required. County librarians must necessarily, if they in any way attempt to meet the legitimate requirements of their public, duplicate some titles by tens or even hundreds. The reason for this is that the county library is divided into many branches and centres.

It may well be asked which titles should be duplicated and to what extent. Experience alone can decide this, but all books with a general appeal will need to be duplicated to some extent. Books may be assessed from reviews and from an actual handling of the books themselves and by the number of requests received. A reader desiring a thriller or love story is not often particular about which one he gets provided it makes, for him, good reading. The writer is only too well aware of the reader who wants a certain "Seamark" or "Sapper" title, but that borrower can, at least, reasonably be given another book of a similar calibre, but there is *no* alternative to an actual Priestley, Walpole, etc., title.

The question of what books to duplicate is largely an individual problem dependent upon the types of borrowers served. An agricultural county is unlikely to require many sophisticated books on the theatre and ballet, however popular they might be in an urban library The interests of the countryman are plainer. The highly developed humour of Nicolas Bentley and Osbert Lancaster are unlikely to interest him. He is liable to be shocked by Arthur Wragg, Jack Jones, Aldous Huxley, etc.

It can be seen from the above two paragraphs, therefore, that not only must we consider what types of books to duplicate but also the relation of these types to type of public. Further, there is the question of books in great demand when new but in little or no demand after a year or less (*e g* , much biography, and books on places or topics of current interest—the Abyssinian and Spanish Wars). The popular, but enduring, non-fiction books should be duplicated to a great extent.

TYPES OF BOOKS DUPLICATED FAIRLY HEAVILY IN A RURAL COUNTY LIBRARY

PRACTICAL, "HOW TO DO IT," BOOKS e g. "Teach Yourself " series, and all such subjects as cooking, gardening, needlework, etc
SIMPLE INTRODUCTIONS. e g "Science of Life" series, *Mathematics for the Million*, etc
CURRENT AFFAIRS. With caution, and only outstanding examples likely to have a fairly long life, or to be so outstandingly popular as to be worn out before interest dies. e g *Inside Europe*, *Insanity Fair*
BOOKS IN DEMAND FOR SCHOOL USE e g. Nature study, simple crafts.
POPULAR TOPOGRAPHY, ETC e g Batsford's "Face of Britain" series, "English Heritage" series Morton's books.
GREAT WAR Where well written, e.g Sassoon—*Memoirs of an Infantry Officer*
SENSATION e g *Persons in Hiding*, "Famous Trials" series
BIOGRAPHIES OF LIVING PEOPLE See Current Affairs
CLASSIC WORKS e g Lawrence, *Seven Pillars of Wisdom*
LOCAL INDUSTRIES Both practical and popularized books. e g agriculture—Frazer's *Sheep Farming*, Seabrook's *Modern Fruit Farming*, A G. Street's books.
PLAYS.—Suitable for amateur performance.

It is recommended that juvenile books should be duplicated to an even greater extent, concentrating on the comparatively few good ones. Since children pass through each reading age quite rapidly there is no need for a very wide range of titles, but since the standards of taste inculcated in the child form the basis of all future work, it is important that the quality should be high.

A systematic plan of duplication was dealt with by Mr. B. Oliph Smith in his paper "Planned economy in book selection" delivered before the 1934 Annual Conference of the Library Association. Mr. Smith's scheme ensures that each centre receives every worth-while book within three years. The

centres are divided into groups of a size determined by the number of exchanges per year (ten centres is a convenient number where three exchanges per annum is the rule), and one or more copies of each book, which it is decided comes within the scope of the scheme is allocated to each group until it has been circulated to all the centres within the group. By the end of three years the books will have lost in topicality and popular demand, and their physical condition will be such that there should be no qualms about discarding the majority of them.

The "economy" inherent in such a scheme is obvious. By rational planning on these lines we can obviate much time-wasting effort. The purchase of the same books in twos and threes hardly makes for a satisfactory service, and adds considerably to the work involved in keeping the necessary records.

Local Collections

It is very desirable that county libraries co-operate with urban authorities in regard to the provision of a local collection. It is unreasonable and uneconomical for the county library to duplicate the work done by urban libraries in this direction. But, it must be remembered that books in urban library local collections may often only be consulted in the library. This is obviously essential in some cases, but not all. Many could be supplied either through the post or for use in local centres or regional branches. There is no valid reason why books from the local collection, except original material, should not be sent for a time to regional branches, particularly where duplicates are available.

Branch Library Stock

According to figures in the *County Libraries Statistical Report*, 1931-32, the average stock at county branch libraries was 29.1 per 100 of population. The *County Libraries Manual*, 1935, recommended that whilst this figure could be taken as an initial stock, when the library was developed 40 per 100 of population would be necessary. The present writer feels that 50 per 100 of population should be regarded as a minimum, but that figure will increase as the population decreases, and in a town of say 1,500 inhabitants it should be well over 100.

The reference section creates special problems. In the smaller towns it is usually found that the demand does not justify the inclusion of standard text-books in both lending and reference libraries as is done in many urban libraries. Hence the reference section should include the best dictionaries, encyclopædias, atlases and directories (See the list given in the appendix to Chapter X.) On the other hand, however, there seems no justifiable reason to suppose that county library branches serving populations of 10,000 and upwards—and there are a considerable number of them—need develop reference libraries on the lines of the urban systems With a good reference collection and trained staff at headquarters the telephone removes much of the need for full reference services locally, and will save a great deal of expense, and the book stock of any county library branch should be built up bearing in mind the existence of the headquarters students' stock.

The book stocks of the branch libraries are kept up to date by :

(*a*) Additions to the stock—new books and special requisitions.

(*b*) Regular (probably quarterly) exchanges in branches with total book stocks of 10,000 and under.

Whilst it should be found that it is adequate if 20 per cent of the stock of a branch containing 10,000 volumes is exchanged annually, this percentage should rise as the size of the branch or centre increases, and 100 per cent of the books of a centre with a stock of 200 books should be exchanged thrice annually. The books at the centres should not be exchanged at less than intervals of every four months, otherwise the stocks will become rapidly exhausted unless they are more than usually adequate. Many counties are so organised that an exchange means a break in the service, sometimes of two or three weeks To some extent this is due to local librarians and cannot be avoided. Three such breaks in the year are enough so that more frequent exchanges should be avoided. The better method is to increase stocks in such cases. New books and requisitions should, of course, be supplied as frequently as the service permits.

Children's Libraries

Whilst children's departments comparable to those in urban libraries should be provided in the branches, where the child population is large enough to justify them, and otherwise children's corners in the adult lending department, school libraries are an essential feature of the county service. The same principles of selection obtain, whether they are situated in the school or the branch libraries, as for the urban children's libraries.

The library should be a school and not a class one. This method should become more prevalent with the development of central schools in rural areas, many of which will, we hope, be provided with special library rooms. The size of the book stocks must be related to the age of the school. As an average I suggest three books per two children, although in small schools these figures would have to be modified fairly drastically. Thus in a village school containing twenty children of all ages, thirty books ranging from, say, 8—14 years, would be grossly inadequate. School libraries should be changed each term. Special sets or collections of reference books may be supplied to illustrate and amplify class work, but reference collections are best provided in the branch libraries.

Suggestions and Requisitions

In county libraries, where it is frequently impossible for the librarian to make personal contact with readers, suggestions of books for addition to the stock should be encouraged. In the case of centres, borrowers should send their suggestions and requisitions direct to headquarters, but borrowers at regional branches should hand them to the librarian who should report on the suggestion and send them to headquarters at least once a week. In the case of new books the procedure will depend upon the method of purchase—whether the librarian has discretionary powers, or whether all books have to be submitted to the committee for approval. Books already in stock will have to be divided into

(*a*) Books the library is willing to supply by post
(*b*) Books of a more ephemeral nature which can only be supplied at an exchange.

If they are of the former variety they should be sent to the branch making the application or if the application comes through a centre they should be sent direct to the borrower ; whilst with regard to the latter type it is reasonable to keep a file at headquarters which is checked as books come in from exchanges, booksellers, binders, etc., and those books requisitioned set aside for dispatch to the branches and centres as soon as possible

Students' Books

Considerable mention has been made of students' books in this chapter. What is a student's book? The writer feels that the nature of county library work justifies a liberal interpretation and those books desired by intelligent general readers should be supplied through this service At least one county has dropped the descriptions "Postal Service to Students," "Students' Service," "Students' books," etc., and uses the wider phrase "Request Service" Travel books of the standard of Peter Fleming, radio and amateur mechanic books, modern plays, books on current affairs by men like Gunther, Reed, Bruce Lockhart, and so on should be supplied through the postal service. By "postal service" I include those batches of books which in many counties may be sent at special rates in local buses, etc. Reference was made earlier in this chapter to the fact that what is a student's book in an educated urban area is not the same as in an uneducated rural one.

CHAPTER XII

THE SELECTION OF PERIODICALS AND MAGAZINES

Necessary limitation of expenditure on periodicals and magazines.—Principles of selection

THE provision of newspapers and magazines must be conditioned by the size and scope of the library, whether it is a large central library with news and magazine rooms with the monthly and quarterly reviews in the reference department and technical, scientific and commercial papers and magazines in the commercial, science and technology libraries, or whether it is a branch with a single reading room or even only with accommodation for periodicals and magazines in the lending library.

The expensive nature of magazines, taken on a year's working, should be borne in mind. Whilst one shilling per week seems inexpensive, we cannot over emphasize the obvious fact that for that expenditure books to the value of £2 12*s.* 0*d.* may be purchased during one year alone.

Thus, we have to limit rather than to select. Considerable attention has been paid in the past to representing all shades of political and religious opinions in our reading rooms, but we feel that it is an unsound policy to concede the right of political or religious representation without any limitation. To develop that to its logical conclusion would mean

that we are liable to introduce a host of such literature, though much of it may be donated, which would take up valuable space in these days of small reading rooms The moral is, however, do not develop it to its logical conclusion, but establish a definite policy Thus, religion should be represented by one standard periodical for the foremost religious bodies, and deal similarly in respect of politics We must then steadfastly refuse to accede to any suggestions for, and to decline any offers of, additional periodicals.

If we are to accept any criteria for selecting periodicals it must be for the excellence of their journalistic quality and/or their practical value Further, we may have several periodicals of the same type and the provision must be limited. There are several, for instance, which deal with contemporary history in general, and society life and the latest mode in particular, and whilst the writer feels that one—*The Illustrated London News*, for example—should be taken, and bound, there is no apparent justification for providing further examples Similarly, there are several motoring and radio periodicals and a choice must be made.

There is a tendency for librarians to desire to provide all the "highbrow" papers—*The New Statesman*, *The Spectator*, *The Times Literary Supplement*, *Life and Letters To-day*, and other reviews. Whilst they should all be taken, particularly for book selection purposes, it is extravagant to provide them all in all the reading rooms, at branches at least, if the demand is slight

The visitor to the reading room may expect to find periodicals relating to current affairs, national and local, *i.e.*, daily newspapers and weeklies, crafts and hobbies. In many cases there are several of the same type being published and we must necessarily

limit our expenditure Local newspapers may be duplicated as required, and one copy should be reserved for binding

A word about periodicals relating to hobbies. They must be chosen for their practical value For instance, the amateur gardeners will be better served by *Amateur Gardening* than by the *Gardeners' Chronicle*, which latter is a trade paper

Care should be taken to choose technical and trade periodicals for their soundness and it is often as well to obtain the advice of a specialist Obviously it is of paramount importance that they be selected in accordance with local industries and pursuits affected by local conditions

The following is a brief list of representative periodicals. In adapting it to the needs of an inland town, for example, it would be necessary to delete the nautical periodicals :

GENERAL	*When Issued*
Blackwood's Magazine	M
Chamber's Journal	M
Contemporary Review	M
Cornhill Magazine	M
Country Life	W
Fortnightly Review	M
Illustrated London News	W
Listener	W
New Statesman and Nation	W
Nineteenth Century and After	M
Notes and Queries	W
Punch	W
Quarterly Review	Q
Spectator	W
Sphere	W

PHILOSOPHY	
British Journal of Psychology	Q
Hibbert Journal	Q

	When Issued
Journal of Philosophical Studies	Q
Mind	Q

RELIGION

British Weekly	W
Catholic Times	W
Christian World	W
Church Quarterly Review	Q
Church Times	W
Dublin Review	Q
Evangelical Quarterly	Q
Expository Times	M
Guardian	W
Inquirer and Christian Life	W
Journal of Theological Studies	Q
Tablet	W

SOCIOLOGY

Adult Education	Q
Board of Trade Journal	W
Economica	Q
Economic History Review	M-6
Economic Journal	Q
Economist	W
Journal of Education	M
Law Times	W
Ministry of Labour Gazette	M
Municipal Journal	W
Sociological Review	Q
Statist	W
Teachers' World	W
Times Educational Supplement	W

PHILOLOGY

Journal of Philology	—
Modern Language Review	Q

SCIENCE

Annals of Applied Biology	Q
Discovery	M
Ibis	Q
Journal of Ecology	M-6
Nature	W
Science Progress	Q

USEFUL ARTS

	When Issued
Accountant	W
Aeroplane	W
Amateur Gardening	W
Analyst	M
Architect and Building News	W
Autocar	W
British Medical Journal	W
Builder	W
Contractors' Record and Municipal Engineering	W
Electrical Review	W
Electrical Trades Journal	M
Engineer	W
Engineering	W
English Mechanics	W
Feathered World	W
Field	W
Gardeners' Chronicle	W
Good Housekeeping	M
Hobbies	W
Lancet	W
Metallurgia	M
Model Engineer	W
Motor Boat	W
Motor Cycle	W
Popular Gardening	W
Practical and Amateur Wireless	W
Shipping World	W
Television	M
Times Trade and Engineering Supplement	M
Wireless World	W
Yachting World	W

FINE ARTS

Amateur Photographer	W
Apollo	M
Architect and Building News	W
Architects' Journal	W
Architectural Review	M
British Journal of Photography	W
British Museum Quarterly	Q
Burlington Magazine	M
Connoisseur	M
Monthly Musical Record	M
Musical Opinion and Musical Trade Review	M

	When Issued
Musical Times	M
Music and Letters	Q
Stage	W
Studio	M

LITERATURE

Life and Letters To-day	M
Times Literary Supplement	W

HISTORY

Antiquaries' Journal	Q
Antiquity	Q
Bulletin of the Institute of Historical Research	3 times a year
English Historical Review	Q
History	Q
Journal of Historical Studies	—
Journal of Roman Studies	M-6

TRAVEL

Geographical Journal	M
Geographical Magazine	M
National Geographic Magazine	M
Scottish Geographical Magazine	M

CHAPTER XIII

THE SELECTION OF BOOKS FOR A NEW LIBRARY

Method of selection.—Question of a basic stock and principles of selection —Provision of books in reinforced publisher's casing and facsimile bindings.—Purchasing

Few librarians to-day are in the fortunate position of having to initiate a library service. Ten years ago there were many towns which had no library service, but we may safely say that this is not the position to-day. There are few, I think, towns, villages, or hamlets which do not benefit from a library service, be it public or county. It is possible that centres of population may change or that new suburbs may spring up, but if such happenings occur it is most likely that a library service of some sort, probably county, will be in operation. The nucleus of a library will be there and the spade work which some of us have experienced will be half done Nevertheless the routine methods in book selection on the wide scale necessitated during the inauguration of a library service will still apply and these will be discussed in this chapter. Similarly, the routine for the selection of books for a new branch library will be much the same The actual principles of book selection have been discussed in previous chapters Local conditions must, of course, be borne in mind.

Method of Selection

When selecting the stock for a new library, whether it be an entirely new service or an additional branch library, it is extremely important that we ascertain as far as possible the potential reading interests of the community. Local conditions should always be a controlling factor in the question of book provision If a community survey, as described in Chapter IV, is not practicable for reasons of expediency or policy the librarian should endeavour—by a study of local industries, local societies, etc., through knowledge gleaned from directories, the local press and personal contacts—to assess the relative potential demands.

Mr. Sharp has referred to the importance of ascertaining as far as possible the reading interests of the community when preparing new libraries in his *Branch Libraries* (Allen and Unwin, 1938). He instances two libraries, each with a book stock of 7,000, which were recently opened at Croydon, one in a better class area and the other in a working class district—"if these conventionally convenient terms may be used with no offence." In the former district the families were small whilst those in the latter were large. When the library in the better class area was opened the adult bookshelves became rapidly denuded, whilst the juvenile shelves remained comparatively full.

The conventional method is to go through the general book selection guides such as Nelson's *Standard books*, Munford's *Three thousand books for a public library*, the *A.L.A Catalog*, the *Catalogue of British Scientific and Technical Books*, etc., and note the books required preferably on 5 by 3 inch cards or slips, giving each entry an approximate classification number.

The special book selection guides—such as those listed in Chapter II—should be studied and the items selected, noted and classified as before.

Catalogues of other libraries should then be searched. These will be of three classes—general catalogues (Liverpool, Glasgow, Bethnal Green, etc.) ; general selective catalogues (Dagenham "Four Thousand Recommended Books"), selective subject catalogues (Middlesex, Leeds, etc) ; and catalogues of recent additions or the year's publications (Coventry "Bookshelf," Croydon "Reader's Guide," the Sheffield Bulletin, and the annual booklist issued by Bethnal Green). In most cases these catalogues will serve as the best guides, reflecting as they do the book selection policy of other libraries

Recent publications should be selected as they appear and included in the general stock

All the cards must then be sorted together into classified order and checked with the classification scheme to discover whether any important subject has been overlooked They should be checked, too, by the percentage tables given in Chapter IV to ensure that the balance of subjects is maintained.

Basic Stock and principles of Selection

A new approach to selecting the book stock for a new library was instituted by Mr. T. E. Callander when Chief Librarian of Finchley. He adopted two principles :

(i) There was no attempt to cater for readers who might demand fiction of a trivial kind The fiction selected had, as far as possible, some cultural significance

(ii) The theory of a basic stock was not put into

> practice. Thus, instead of purchasing books which, it is usually considered, ought to be in any public library, and supplementing these with current publications, it was decided to purchase mainly recently published books; with the proviso that any basic book would be added directly it was asked for.

The validity of the first principle is open to much discussion. The fiction question has already been referred to in Chapter VI and it would seem that the question is best left to the individual librarian and his committee, taking into consideration the needs of the local community to decide. At Finchley the fiction was selected according to the personal preferences of the chief librarian and the staff who between them "mustered a very catholic and fairly tolerant taste." Such methods were admittedly open to criticism on the grounds that it is doubtful whether any few individuals have the right to impose their taste on the community.

The light romances of the Ruby M. Ayres, Ethel M. Dell variety were excluded, as also were thrillers such as those by Oppenheim, Sapper, etc.; Galsworthy, Priestley, Walpole and other middle-brow authors were heavily duplicated, and detective stories by such authors as Cole, Crofts, Sayers, etc., included. A representative collection of the works of the significant authors of the present day was aimed at, and a feature was made of foreign books in English translation and also American books.

The non-fiction was strong in sections covering present day economics, politics, travel, literature, everyday affairs, domestic technology and biography. Science and technical subjects were generally covered

with caution until the needs of the district made themselves known.

Thus, the non-fiction was selected for the general reader, and it was thought that the specialist would not hesitate to make known his needs, and, generally speaking, a request for a book not in stock was taken as revealing a gap which was in most cases filled by purchase

It is obvious that such a system of book selection for a new library service is worthy of serious consideration, not only from its departure from conventional practice but from its qualities of sound common sense. The reader desiring further information on the working and results of this method is referred to Mr Callander's article in *The Library Association Record*, vol. I, 4th series, pp 416-19.

As before remarked, the limitation of the fiction stock is an extremely debatable point and most librarians would effect a compromise. It may be agreed that it is highly desirable to duplicate middle-brow authors The virtues of that method of selecting the non-fiction may be summarised :

1. The stock is definitely up-to-date (*i.e.*, in general literature)
2. The specific needs of the community in respect of scientific and technical books are served in response to actual requests, thus eliminating wastage which might occur in areas for which a more comprehensive stock had been chosen This is assuming that it has not been possible to institute a preliminary survey of any kind of the reading interests of the community. It is assumed also that only a day or two elapses between actual requests and the supply of

the book—the librarian must have discretionary powers of book purchase without placing the books before the committee for approval.

3. The cost of the books is spread over a longer period. By permitting the books and subsequent additions to be purchased out of revenue we may save the borrowing of, or part of, funds for the initial book selection and thus avoid the payment of heavy loan charges.

It would seem that the ideal approach to the selection of books for a new library would be a compromise between a basic stock policy, and a policy of current stock whereby basic stock is added only if required.

The current stock certainly should not be neglected, but it is also very important that there be a certain minimum basic stock. Much depends upon the definition of basic stock and the definition of current stock. I would describe Methuen's or Ward Lock's guides to the Lake District as basic stock, and a borrower might reasonably expect either, or a good alternative book on the Lake District, to be in the public library. Such instances may be multiplied, and the library is liable to lose a considerable amount of prestige if such books are not in stock On the other hand the Loeb classics are certainly basic stock, but I would advocate no librarian, who is commencing a library service, to purchase a complete set of these They increase the initial expenditure in a proportion rarely compatible with their initial use, and they may justifiably be purchased when requested. This principle might well be applied to the classics of English literature—provide the works of the most read poets such as Shelley, Wordsworth,

but leave the lesser-known ones as Crashaw, Quarles, etc., until the demand justifies their purchase.

The new library, then, will in the main reflect current questions and there will be a preponderance of books on psychology, religion, social questions and politics, and history and travel This will play havoc, for the first year or two, with our pre-arranged table of average percentages for each subject.

In the realms of technology and handicrafts books selected should be of an essentially practical variety. Particularly, books on handicrafts and hobbies should be selected for their practical value, and the librarian will find many useful little books published by the journals devoted to these topics—such as the Link House Press. We should beware, however, of making the name of the publishers the *only* criterion, but as a general rule the most reliable publishers are known to the experienced librarian

The types of books in series have been discussed in Chapter III, and we may here add that there are few instances when it is desirable to purchase the whole number of books in a series. In technology, consideration should be paid to series of books, but each book must be selected on its own merit. Similarly, some series may be useful for filling gaps in the book stock, but they should certainly not be purchased *en bloc*

Reinforced Books, etc.

The question will arise, too, as to the desirability of purchasing books in reinforced publisher's casing. Reinforced binding is desirable in the case of books that either get out of date quickly, and which it is uneconomical to bind, yet which merit a longer life than that which they would have in the ordinary

publisher's casing ; and in books that are usually only used to a moderate extent. Guide books in reinforced publisher's casing fall within the first group and the library edition of the Everyman series are an example of the second type. By wise purchasing of books of this variety we can economise on the binding expenditure and yet maintain books which are of an admittedly better external appearance than the usual bound volumes one finds on the shelves of the average public library.

Facsimile bindings also warrant our attention, in so far as some binding firms not only bind the library's books in that manner, but also sell new books which these firms have bound from the sheets in a facsimile binding. Again the advantages of utilising this service are mostly for cheap replacement purposes of books with " short and merry " lives. We are all well aware of this type of popular fiction which is printed on paper that hardly justifies two shillings being spent on each volume for binding (not to mention the time of the staff involved), yet which has by no means ended its life when the publisher's casing is worn out.

We should, of course, distinguish between a reinforced publisher's casing and a facsimile binding. Many popular novels are available in both types, and individual cases must be judged on their own merits—not only the actual book as a piece of literature but also its price. The quality and type of the reinforcing should also be studied. To be of any advantage such books should be re-sewn and stronger tapes and endpapers used. It is not sufficient to paste a piece of tape between the board and the book. I have seen instances, too, of strong quarter leather covers attached to books as sewn ready for the ordinary publisher's casing. The leather has been pasted

down on to the spine of the book, with the result that when the books have been opened the thread has been pulled so that it cuts the cheap pulpy paper—with the obvious consequence that the leaves fall out after very little use.

Purchasing

The financial aspects must also be watched, and the total number of books selected will have to conform to what can be purchased with the funds available. Many books may advantageously be purchased second-hand (though not books on technical subjects, legal books, or others which are quickly out of date), and fiction may be calculated at three shillings and sixpence per volume and non-fiction at six shillings.

Regarding the purchase of the books selected, the method adopted at Hendon was to circularise booksellers for those books which it was decided not to purchase new. From the reports received from these booksellers it was possible to obtain the cheapest, compatible with quality, etc., copy. Of course, this method is only possible or desirable in the case of classic and other books which are not out of date General methods of purchase and the Net Book Agreement are discussed in the next chapter.

CHAPTER XIV

THE ORGANISATION OF BOOK PURCHASE

Method of purchase, the librarian as sole arbiter, a Books' sub-committee and/or a book list —Financial considerations—the Net Book Agreement, and the maintenance of stock —Second-hand, review copies and remainders

METHOD OF PURCHASE

THE method of purchasing books must necessarily depend to a considerable extent upon the method of book selection, which methods were described in Chapters V and XIII, and the practice varies accordingly.

There are three chief methods of deciding on or ratifying the purchase of books for a public library. They are :

1. The librarian has absolute powers to purchase books of his own selection, the only restriction being the purely financial one of keeping within the estimates. The librarian may arrange to show the Committee, or Books sub-committee, a selection of recent purchases as an indication of the trend of his book selection policy.
2. The librarian may obtain all the books on approval, if possible, and submit them for the Committee to sanction or disapprove of the purchase.
3. The librarian may compile a booklist in which the titles are arranged under :

(*a*) Librarian's suggestions.
(*b*) Readers' suggestions.
(*c*) Replacements.

This will be submitted to the Committee who will approve or disapprove the purchase of the books concerned Those approved may be further sub-divided into those which are to be purchased new and those to be purchased second-hand. This booklist may be compiled after the librarian has seen copies of the books obtained on approval

4. The fourth, and in the writer's opinion the best method, is for the librarian to have discretionary powers to purchase immediately :

(*a*) Important new books.
(*b*) Books in great demand.
(*c*) Books urgently required by students

The Books sub-committee should meet fortnightly, if possible, and consider the purchase of the other books.

Possibly, various compromises of all four methods are in existence, but the criterion involved should be one of rapidity of supplying the public with the books desired. The public should not be penalised. In some cases the librarian may have full powers to purchase at his discretion, subject only to the approval of the Chairman. The system adopted must, of course, conform to the method of selection and used in conjunction with the files described in Chapter V.

It is entirely a question of maintaining a balance between authority on the one hand and a rapid and efficient service on the other. Obviously there are other times, too, when it should be desirable

for the librarian to be allowed a free hand. For instance, offers of second-hand books are constantly coming in, and for the librarian to have to await the sanction of his Committee will frequently mean that a bargain is lost. Similarly with review copies—a much sought-after class!

Again, many books should be handled before deciding on their purchase and where it is not possible to obtain them on approval it is necessary to visit some large bookseller. Further, such visits are eminently desirable, for often insufficient justice, or otherwise, is done to some books by the reviewers, or others may be affected by the time-lag between date of publication and the date of the review.

Where the approval of the Books sub-committee is not sought before purchase, it still may be necessary to present a booklist to the Committee each month. This list will be in two sections:

(*a*) Readers' suggestions, stating whether approved or disapproved.
(*b*) Librarian's suggestions, including replacements.

In each case, author, title, library to which the book has been allocated, and price, new or second-hand, must be indicated. In the case of readers' suggestions which have been disapproved, those deferred for purchase second-hand must be so indicated.

Books will be ordered according to local practice, *i.e.*, either by the librarian direct or through the treasurer's department. When the books are received it is sometimes necessary to place the accession numbers against the entries on the bookseller's invoice in order to satisfy the requirements of the auditors. This procedure, however, involves considerable labour, and it should be sufficient if the

auditor is able to see the location of particular copies, by referring to the accession register, catalogue, or the cards from which the booklist is compiled.

Financial Considerations

The first question is one of limiting the purchases so as not exceed the estimate of book expenditure. This may or may not be an easy matter according to the comparative size of the book fund It is, however, eminently desirable that the funds available be fairly equitably distributed over the whole financial year, as otherwise the library is likely to be impoverished towards the end of the financial year. Equally undesirable is the practice of ordering books when the book fund has been exhausted, putting the books into circulation but not presenting the accounts to the treasurer for payment until the commencement of the following financial year. It virtually amounts to overspending and as such is liable to bring the librarian into conflict with his Authority.

By virtue of libraries being large purchasers of books they are entitled to a ten per cent. discount through the Net Book Agreement. The history of the Net Book Agreement is recounted elsewhere (Minto, etc.), but its function may here be described briefly. This Agreement, concluded between representatives of the Library Association, the Publishers' Association, and the Associated Booksellers of Great Britain and Ireland, in 1929, is applicable to all libraries that allow the public to consult or borrow their books without charge, and which spend not less than £100 per annum on new books. The library need not be rate supported provided that any member of the public, on giving satisfactory references, is allowed to consult the books within the library building.

The library should be an Institutional Member of the Library Association.

Mr. Welsford (*Library Association Record*, 3rd series, vol. I, pp 271-3) has summarised the further requirements of libraries under the Net Book Agreement as follows .

They must undertake :

(*a*) That the books purchased are for the sole use of the library or its branches and that they are not for sale

(*b*) That they will notify annually their expenditure on new books under the licence, supported, if called for, by an Accountant's Certificate.

(*c*) That they will accept no other consideration beyond the commission either in cash, kind, or services (*e g.*, reinforced binding, or stamping must be paid for at not less than the full actual cost to the bookseller). The commission may be either taken in the form of books, or as a cash discount upon settlement at the option of the library.

Libraries requiring a licence must apply on the printed forms obtainable from the Secretary of the Library Association who certifies that they are Institutional Members of the Library Association and places the application before the Joint Advisory Committee (representing the Associations concerned).

The purchases may be spread over any number of booksellers, and whose names have to be stated on the application form. The discount was originally fixed at 5 per cent for libraries spending from £100 to £500 per annum on new books, and 10 per cent for those spending over £500 per annum, but in 1931 the Agreement was modified to the effect that

all licensed libraries purchasing new books to the value of £100 and upwards per annum are to receive 10 per cent. discount, except those books on which the bookseller receives less than twopence in the shilling, plus 5 per cent.

It is obvious that this Agreement is in need of still further revision, in so far as some libraries have not joined the scheme, and that it is not a sound business arrangement for a library spending several thousands of pounds per annum on new books only to receive the same discount as the small library spending as little as £100 Unfortunately at the time of the 1931 amendment the Library Association agreed not to apply for any further concessions. However, at the 1938 Annual Conference of the Library Association, on motions by the Gateshead and Ilford Public Libraries Committees, it was unanimously agreed to enter into negotiation with the Publishers' and Booksellers' Associations for a new Agreement.

A last point is the question of funds for maintenance, or rather replacement, of stock. It has been admirably summed up by Mr. J. G. O'Leary, Chief Librarian of the Dagenham Public Libraries in his *Organising a New Library Service* (Gravesend : A. J. Philip, 1937), as follows :

" If an Authority purchases a piece of machinery it is kept in good repair, an annual sum (if legal powers have been obtained) is set aside annually for the estimated life of the machine. It is replaced at the end of its life out of this depreciation fund. Books should be treated in the same manner. With constant use they deteriorate rapidly. The best of libraries are always attempting to overtake decay in books. A depreciation fund for book stocks is a

counsel of perfection which under present-day conditions requires special parliamentary sanction."

SECOND-HAND, REMAINDER AND REVIEW COPIES

The desirability or otherwise of purchasing certain classes of books second-hand, etc , have been indicated in the appropriate sections during the course of this work, but as this question comes so much within the purview of this chapter the recommendations on the matter may be stated briefly here.

1. *Second-hand books.* Books of a lighter nature may advantageously be purchased second-hand (particularly from the circulating libraries, about six months after publication). Fiction, popular travel and biography come within this category.

Basic stock and classics of literature, philosophy, science, art, etc., may be purchased second-hand, but only if they are the actual editions required and in good condition.

We should bear in mind, too, that many classics are available in such excellent and cheap reprints nowadays that their purchase second-hand is not particularly advantageous. Examples are the Oxford Poets at three shillings and sixpence and, in fiction, the collected edition of the works of John Galsworthy at two shillings and sixpence per volume.

Technical, scientific or other books which "date" can rarely be purchased second-hand, for it is imperative that we obtain the latest edition.

2. *Review copies.* Every librarian should be on the look-out for these. Various firms circularise libraries with lists of review copies for sale, usually at about 33⅓ per cent. off the published price and within a few days of publication. These lists should be checked immediately, and those which it has been

decided to purchase ordered by return of post, as otherwise many a bargain may be lost. We should not be tempted to purchase items because of their cheapness, but only if they have a definite place on the library shelves. They should be ordered for the reason that they have been previously selected or that they would definitely have been purchased on the usual terms had sufficient money been available.

3. *Remainders.* Such books, which it must be remembered are books which the publisher has been unable to sell at the full published price, usually fall into five groups.

(*a*) Ephemeral books of travel, adventure and autobiography often published at as much as eighteen shillings and remaindered at as low as five shillings, or very light fiction published at seven shillings and sixpence and offered at two shillings or so.

(*b*) Worthless books on academic subjects.

(*c*) Scholarly books for which there is only a limited demand

(*d*) Expensive and limited editions. These are only occasionally desirable purchases, such as books on art containing good reproductions. De luxe editions of the classics are rarely worth purchasing, from an economic point of view, even when remaindered. Their size is often inconvenient.

(*e*) Occasionally good books are remaindered, but even here we must be careful as books are only remaindered because of the lack of interest on the part of the reading public in them. A good " remainder " was Neale's *Queen Elizabeth*

Lists of second-hand books, review copies and remainders circulated by booksellers should always be studied. Experience will usually show what reliance may be attached to particular booksellers in this respect. These lists should be studied with a view to:

(*a*) Purchasing books, which have already been selected, at a more economical rate
(*b*) Purchasing books which the library requires, but would otherwise have been unable to afford
(*c*) Purchasing books for replacement purposes.

CHAPTER XV

DISCARDING AND REVISION OF STOCK

Necessity and reasons for discarding.—Types of books to discard —Editions —Particular subjects —Pool stock —Method of discarding and replacement —Revision of stock

NECESSITY

THE necessity for the drastic discarding of books is not so apparent in libraries to-day as it was in the early post-war years when many library systems were re-organised Many libraries had collected, not selected, books since the date the libraries were opened—which may have been at any time after the middle of last century. Moreover the binding of all volumes in half leather had been a golden rule which resulted in out of date and inferior books taking up valuable space on the shelves. Such a state of things does exist, unfortunately, in some libraries to-day, but the examples are getting very few.

However, one still sees out out-of-date and little used books on present-day lending library shelves. "Out-of-date" is, of course, a term which really requires qualifying. By "out-of-date" I mean books on scientific and technical subjects which have, by reason of more recent research and developments in those subjects, become out-of-date, and which—if they are available—should be replaced by books embodying these new ideas, etc Then again there are other books of history and biography which have been superseded by more modern works. This is

true also of many text-books on academic subjects. Another type of book which requires discarding fairly soon is the book on questions of the day—political, economic, etc.—or books on contemporary events.

It must be admitted that, until the post-war reorganisation period, librarians had not been at all drastic or ruthless in their discarding. The reasons may have been :

1. The fact that open access was the exception rather than the rule.
2. The fact that leather binding was all too prevalent, and which discouraged the withdrawal of a physically sound book.
3. The comparative slow-moving of the times in those days, and which must have resulted in a different attitude than that suggested in the modern high-speed world. Brown, it will be remembered, suggested that scientific and technical books should not be withdrawn until 20 years after publication. It would be ludicrous to have a book on motor-car maintenance and repair on the library shelves to-day if it were published 20—or even 10—years ago !

Reasons

Now that a policy of drastic withdrawal—by reason of the task having been or is being achieved up and down the country—is no longer required, we may calmly consider the why, wherefore, and when of discarding. There are three chief reasons for discarding books. They are :

1. By reason of their having become out-of-date, or superseded ; or the interest in the topic, person or event they describe having died down.

2. That they are worn out, and/or dirty.
3. That they are not worth re-binding. This applies largely in the case of books of topical interest or light fiction. Few of the books produced during the economic crisis of 1931 are of any value on the lending library shelves to-day , nor are the host of books on the Abyssinian war, neither will be the books on the Spanish Civil War in a year or two's time. Even now, books purchased in the early stages of this Spanish conflict have lost the interest of the public.

Types

This last point raises the issue whether books of such a short life should be added to a public library. Many are journalistic accounts, but as they reflect what is happening in the world it is the librarian's duty to provide them. There is little reason for them to be discarded on the grounds that they may be replaced by historical resumés. The person interested in these topical questions is unlikely to be interested in academic histories. His interest will be taken by another similar event, and therefore such books may safely be discarded, but it may be found desirable to put such books, or some of them, in the pool stock for a period and those outstanding in their factual interest may be placed in the reference stack room.

Many of the books in which journalists survey the whole of Europe can be discarded when the interest in those books has waned, and also the quick succession of books on the European Dictators.

We should at all times aim at keeping the shelves "alive," not full of unread and unused books ,

but the possible demand for books of a certain class or type should never, if possible, be overlooked Local and national events often create a demand. Thus, for instance, there was at least twenty reservations at a library a few years ago for the late James Ramsay MacDonald's *Life of Margaret Ethel MacDonald.* This demand was created out of local interest. Again the tercentenary, last year, of the conversion of John Wesley evoked considerable interest in books which otherwise might have quite justifiably been discarded.

Books of local interest should never be discarded, but included in the local collection This question of special collections does not receive the attention it warrants. Naturally, libraries should have books which are connected in some way with the locality or its inhabitants, but it would also be highly desirable if more libraries specialised in certain subjects It brings in the question of co-operative book buying. Expensive, specialised, and old books might well be offered to the National Central Library before they are sent to the pulping factory or waste-paper merchant, but special books of local interest might first be offered to libraries possessing special collections on those subjects. The question of the initial purchase is really outside the scope of this chapter, but it is extremely important in so far as instead of, say, a dozen libraries purchasing twelve simple or introductory books on a subject—where, in fact, only one or two copies would be sufficient between these libraries—it could be decided which library is to collect certain special material ; thus freeing funds for the purchase of more expensive and additional books and providing its public with a wider selection of that and other subjects.

Editions

Before discarding a book in favour of what is termed a "new edition" care should be taken in discovering :

1. Whether it is actually a new edition, not a reprint or another issue
2. Whether the new edition is substantially different from the previous edition.

If the book is actually a new edition and it has been decided to purchase same, the old copy need not necessarily be discarded. The borrower might well find the material contained therein suitable for his needs, and it is desirable, if the copy is not dirty or worn out, to insert a slip in the old edition similar to the following :

JONES, L R, and BRYAN, P W North America. 1938. 5th ed

A copy of the above edition is available in the Central lending library It differs from this, the 4th edition, by the addition of four chapters on Soil Erosion, Hay and Wheat Belts, Power Resources, etc. Several chapters, chiefly dealing with agriculture, have been rewritten, and all statistical matter brought up to date

Particular Subjects

The following general rules may be advanced for the discarding of books. The incidences for discarding have been mentioned above but we may here reiterate that books of which the publishers' casings have worn out should not necessarily be bound It would hardly be good policy to spend money on binding, for instance, Cole's *The intelligent man's guide through world chaos* nor Gunther's recent best-seller *Inside Europe* Such books, good as they are for their purpose, are particularly topical, and their

is no point in prolonging their life for at least another two years. (In any case, the latter is brought up to date in new editions.)

Philosophy and psychology. Discard freely popularly-written books on philosophical, psychological and ethical problems when the interest in them has waned. Retain systems of philosophy (*i.e.*, original thinkers), but books about systems may be safely discarded when superseded.

Religion Histories and expositions of religion when superseded , personal religion and sermons for which the demand has ceased.

Sociology. Theories and theoretical solutions to sociological problems as soon as the interest in them has waned, also books that " date "—foreign affairs, politics, etc.

Language. Out of date text-books, old grammars and dictionaries.

Science and Useful Arts. Popular books on science and machines Not those of classic rank. Text-books when superseded.

Fine Arts. Chiefly replaced by new editions or better books. Be careful in the music section. Most music has to be bound, thus endowing it with a longer life than it sometimes warrants. Replace classics when worn out or dirty, but discard popular music when interest has waned.

Literature. When popular demand has ceased, except those of accepted literary merit Anthologies when efficiently superseded.

Travel Guide books when superseded. Popular travel when interest has died out.

Biography. When interest in biographee has ceased. Much biography can be transferred to the reference stack or pool stock.

History Histories when superseded Discard freely books on contemporary events.

Pool Stock

It is recommended that free, but legitimate use of a central pool stock be made in connection with discarding. Books which are of very little use on the lending shelves but which are too valuable by reason of their subject or are little used standard works should be transferred to the pool stock. On no account, however, should the pool stock contain ephemeral books in which interest has ceased.

Method of Discarding

The routine of discarding should be conducted, in a centralised system, in conjunction with the card illustrated on p 179, 5 × 3 inch being the most convenient size. It is a dual purpose card serving both discarding and replacement.

This card should be completed by the department concerned, noting whether it is recommended that the book be replaced, and if so, giving particulars of the suggested edition in the section for date, edn., etc., in the lower half of the card. It should then be passed on to the person in charge of the book selection who will approve that the book be :

(*a*) discarded,
(*b*) replaced, or
(*c*) transferred to another department or to the pool stock

The card must be returned to the department concerned for the alteration of their records and then

sent to the cataloguing department for the necessary adjustments to be made to the union catalogue. If the book is to be replaced the usual Committee and book purchasing procedure may be proceeded with, provision for which is made on the card. To avoid confusion with the usual book selection cards it is recommended that this card be of a different colour.

Revision of Stock

The subject of revision of stock has been treated in detail by Mr. Berwick Sayers in his *The revision of the stock of a public library* (Grafton, 1929). We may here briefly mention that it is a process which should be continuous and should be conducted, when a library has been reorganised or is running on the most up-to-date lines, systematically, class by class, in such a way that the literature which the library has on any subject is revised every few years. This process may profitably be carried out as an auxiliary to discarding At the same time we should watch closely the issue sheets, and, if the issues in a particular section drop, endeavour to ascertain if this is the result of an inadequate book stock in that particular class.

On the other hand, if issues of a particular subject rise we must investigate whether even further provision in this class is desirable.

At the same time we must beware of being obsessed with making the rise and fall of issues the criteria for revision of stock We must remember that supply can create demand. We cannot expect people for whom we do not cater to use the library The shopkeeper tempts us by providing and displaying his goods. And as Mr. Savage has said (" Method in book selection," *The Library World*, October,

Author					Liby Classn
Ordered	Title				
Vendor	date	edn	pub'r	price	
Date rec'd	worn out	dirty	requires bdg	out of date	not in demand
	lost or damaged	not recovered	missing	other copies	
Cost	replace	transfer	discard	O P	
Notes	date	edn	pub'r	price	
Date of Comm	Approved	Second-hand	Deferred	Disapproved	

FIG 4

1938), "The better our technical section (if wanted at all) the greater the criticism of it, and the more numerous the claims for additions ; if weak it remains weak, for technicians avoid it as salesmen avoid bankrupts, and librarians conclude unwarrantably that money is wasted strengthening it."

The method of revision of stock may be taken as being similar to the method of selecting the stock for a new library described in Chapter XIII. The general and special bibliographies must be checked as well as the catalogues and bulletins of other libraries, the selection being kept within the funds available and the approximate number of books desired, bearing in mind the general principles of book selection and the special principles relating to the subject and the district concerned.

CHAPTER XVI

CONCLUSION

Book selection—art or science ?—New trends in library practice. —Supply creates demand —Quality of the book selector.

BOOK SELECTION—ART OR SCIENCE

HOWEVER logically, or illogically, we may argue that book selection is a science there can be no doubt that as practised to-day book selection is an art. This has been the theme of this book. Book selection is not a thing which may be measured with a yard stick. It cannot be stamped out with the precision of any machine. Nor can a book be analysed with the definiteness with which we can analyse a piece of metal. We need only to compare the pronouncements of a few reviews on one book to assure ourselves of this. Many books are concerned with theories, and theories are always debatable—they always have their adherents and opponents.

Nevertheless, book selection is an art to which the benefits of science should be added. This has been indicated at the beginning of this book in the case of the community survey. We have not yet arrived at a complete psychology of reading, but if and when we do, that will help us select books in a more scientific manner.

Psychologists have conducted considerable research on the reading process during the past fifty years and we are now able to state fairly definitely the

most suitable physical form in which a book should be produced. Details of this research will be found in Chapter IV of the present writer's *Reading, an historical and psychological study* (Philip, 1939).

Various common fallacies about reading habits have been exploded in recent years The theory that working people read about machinery and its effects on civilisation has been contradicted, yet many books on sociological and identical problems are still allocated to libraries in working class areas. Again, few people in rural areas wish to read about agriculture. The farmer has little time to read books on his job by a botanist, neither has the poultry-keeper the inclination to read books on his job or hobby by scientists. Actually, books on poultry-keeping are of more value and interest to the town fancier than his rural cousin. Further, such books should be of an essentially practical nature, and preferably written by persons actually in the poultry fancy.

The advent of county library schemes has brought further problems. Thus, for instance, the librarian of the West Riding County Libraries has to provide for an agricultural, mining, and an industrial population. Scientific methods may be introduced in the form of a technique of change and interchange in these county library systems. Experience in one of the most densely populated of the county libraries, has shown me that the actual book selection (and by "book selection" I mean not only the initial selection but the making up of collections for delivery to centres, and the changing of these collections—unless they are merely transferred from centre to centre like so many sheep) is still an art rather than a science. This is due partly to inadequate book funds, but also

to the impossibility, mentioned above, of fixing a certain book to a specific reader with the skill that a carpenter can fix a knob to a door, or with precision that pieces of machinery—although made independently—can be made to "fit" when brought together. At the same time a book is not "complete" until it has found a reader.

And again we know only too well that reading tastes (due partly to press campaigns) vary from day to day—and that variations cannot be plotted on a graph, at least not until after the event. It is not easy to *forecast* reading. Who would have thought that the interest in books on pacifism and peace of a year or so ago would have been replaced by an interest in A.R.P. work.

New Trends in Library Practice

We must also consider any new trends which are manifesting themselves in library practice. Despite the rapid advances made in library practice and in the development of the library service during recent years, comparatively little attention has been given to the actual departments required for a library. It seemed an absolute law that a reference and a lending department had to be maintained in all central libraries. Commercial libraries were developed during and after the Great War to facilitate the trade revival. Separate departments for children have become practically universal, and experiments have been made with adolescent departments.

Partly owing to the economic conditions prevailing at that time, and partly owing to the stocking of libraries with liberal supplies of popular fiction due to the desire of many librarians to increase the popularity of the libraries under their control, the

demands made upon public libraries during the late nineteen-twenties, became greater than any hitherto experienced.

At the same time there was a movement to brighten the dull and forbidding reference libraries. New non-fiction of a general nature was added to the reference department instead of the encyclopædias, etc., and the standard academic works which were previously allowed to monopolise the reference shelves. Contemporaneously that so-called, but much cherished, person in library literature, the " browser " has been driven away by the high speed methods now prevalent in a large and busy lending library, only to seek solace in the reference department.

The logical outcome of this development seems to be to transfer non-fiction, except of a popular and "general-reader" variety, from the lending to the reference shelves, and permit borrowing, within certain limits, from there. Those who want quietness, students and such-like, should be provided with separate rooms. The forbidding quietness of the reference department must disappear if the public are to derive full benefit from the library service.

Supply Creates Demand

Mention has already been made that the supply and display of good books can create a demand for them. The successful shopkeeper has first of all to stock and display good articles in order to arouse and stimulate interest in them. However well those goods may be displayed if we find on trial that they are inferior we do not come for more. We look to the retailer to draw our attention to articles and to assist us in our choice. Similarly with libraries. At the same time, this policy must be used with dis-

cretion—it would serve no useful purpose to provide Wendt's *Foundry Work* in a seaside town

Quality of the Book Selector

And what of the qualities of the book selector? Freedom from bias can hardly be recommended, although that is the gospel usually preached. A librarian may have a preference for motor cars and little inclination for poetry. It is inevitable that his book selection in the former subject is the better, but that is infinitely preferable to him having no interest in either and as a consequence his book selection being scanty and mediocre in both topics.

Yet he should beware lest his bias induce him to omit certain aspects of subjects and books belonging to particular schools of thought which he dislikes. At the same time bias indicates an interest in matters, and which is far more satisfactory than mere indifference, lack of knowledge, and a " know-nothing " attitude.

Ability, rather than learning, is his chief quality. Ability to assess, ability to discriminate, and ability to reason. He should be aware, as far as humanly possible, of current events (by " current events " I mean not only wars and such-like, but also the general trends in science, art and everyday life) and deduce therefrom the likely demands upon the library service.

He should possess sufficient grounding in scholarship to enable him to discriminate, but—and I feel that this is the more important factor—those qualities of a sound business man to enable him to plan and administer the library service on rational, progressive, and thorough, rather than haphazard lines.

SELECT BIBLIOGRAPHY

BROWN, J. D. *Manual of library economy.* 5th edn. by W. C. Berwick Sayers. 1937. Grafton.

CARNELL, E. J. *County libraries; retrospect and forecast.* 1938. Grafton

COWLEY, J D. *The use of reference material; an introductory manual for librarianship students and assistants.* 1937 Grafton.

DRURY, F. K W *Book selection.* 1930 American Library Association.

—— *Order work for libraries.* 1930. American Library Association.

GRAHAM, B. *The bookman's manual.* 4th edn. 1935. New York: Bowker.

HAINES, H. E. *Living with books the art of book selection.* 1935. Columbia Univ Press.

HEADICAR, B. M *A manual of library organization.* 1935. Library Association and Allen and Unwin

LEYLAND, E. *The public library and the adolescent.* 1935. Grafton.

LIBRARY ASSOCIATION. Committee of the County Libraries Section *County libraries manual,* ed. by A S. Cooke. 1935.

—— *Small municipal libraries; a manual of modern method.* 2nd edn 1934.

McCOLVIN, L. R. *The theory of book selection for public libraries.* 1925. Grafton.

—— *and* McCOLVIN, E. R. *Library stock and assistance to readers; a text book.* 1936 Grafton

—— *and* REEVES, H. *Music libraries.* 2 vols. 1937-38. Grafton.

SAYERS, W. C. BERWICK. *Local library collections.* 1939. Allen and Unwin.

—— *A manual of children's libraries* 1932 Library Association and Allen and Unwin.

—— *The revision of the stock of a public library.* 1929. Grafton.

SHARP, H. A. *Branch libraries, modern problems and administration* Allen and Unwin 1938.

WARNER, J. *Reference library methods* 1928 Grafton.

WELLARD, J H. *Book selection* 1937 Grafton.

WYER, J. I. *Reference work* 1930. American Library Association.

INDEX

THE LONDON AND NORWICH PRESS, LIMITED, ST GILES WORKS, NORWICH